प्रकाशक—
पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी,
अकाली मार्किट,
अमृतसर

मुद्रक—
ना० रा० सोमग
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रे

विषय-सूची

पूर्वार्द्ध

विषय	पृ० सं०
शरीर के उत्ताप का ज्ञान	१
उत्तापकी उत्पत्ति वा स्थिति	३
उत्ताप-वृद्धिका कारण	६
दाह, सन्ताप और ज्वर	११
सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट कारण	१४
विप्रकृष्ट रोग	१६
दोष क्या है	२३
ज्वर रोग है या लक्षण	२७
प्राचीन ज्वरों पर कुछ तुलनात्मक विचार	२६
ज्वर और सन्निपात ज्वर	३७
सान्निपातिक ज्वर पर मतभेद	३६
प्राचीन सन्निपात ज्वरोंके नाम और लक्षण	४५
सान्निपातिक ज्वरोंपर कुछ विचार	६६
ज्वर पर कुछ अन्य विचारणीय बातें	७४
मन्थरज्वर और उसकी चिकित्सामें भूल	७६
साधारण ज्वरों पर विचार	८२

उत्तरार्द्ध

विषय	पृ० सं०
रोगों का मूल कारण	८६
क्षमता और रोग	१०२
जैवी रोग और शरीर	१११
जीवन-युद्ध और रोग	११३
रोग और निदान	१२७
विषमज्वर	१३६
कराल विषमज्वर	१६०
कालज्वर	१६२
मन्थरज्वर	१६७
राजयक्ष्मा और क्षय	१८४
उदर-ग्रन्थि-जन्य क्षय	२१३
अपची व कण्ठमाला क्षय	२१५
माल्टा ज्वर या तरंगी ज्वर	२१७
कुंकुम ज्वर	२२४
प्लेग (महामारी)	२३२
शीर्षमण्डलावरण प्रदाह	२४२

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
शीर्षमण्डल प्रदाह	२४७	कुकुरकास	३०५
फुफ्फुस प्रदाहज्वर	२५०	कण्ठारोहण (डिप्थेरिया)	३०६
श्वसनक ज्वर (इन्फ्लुइञ्जा)	२६७	रोमान्तिका	३१५
अस्थिभञ्जीज्वर	२७२	श्वसनप्रदाह (पसली चलना)	३१८
पुनरावर्ताज्वर	२७६	बालाक्षेप (अहाजुट)	३२०
आखुविषज्वर	२७९	वृहत् मसूरिका (कौद्रव)	३२६
चित्रालीज्वर	२८२	लघुमसूरिका	३२६
पीतज्वर	२८४	अरुणीज्वर	३२८
अतिनिद्राज्वर	२८५	रक्तमसूरिका	३२९
सन्धिवातज्वर	२८७	कर्णफेर	३३०
प्रसूतिकाज्वर	२९२	गलायु प्रदाह	३३[illegible]
विसर्प	२९५	उपसहार	३३[illegible]
कक्षा या परिसर्प	३०१		

भूमिका

व्याधियाँ अनेकों हैं। मनुष्य जबसे जन्म लेता है रण पर्यन्त तक—उसे एकबार नहीं, अनेकों बार किसी-न-कसी व्यथाका सामना करना पड़ता है, अनुभवसे यह जाना गया है कि अनेकों बीमारियोंमें से ज्वरकी एक ऐसी व्यथा है, जो सबसे अधिक होती है। स्वतन्त्ररूपमें तो यह होती ही है, अनेकों बार परतन्त्ररूपमें—अनेक बीमारियोंके साथ लगी लिपटी भी दिखाई देती है।

जरा भी किसीको प्रतिश्याय हुआ, अगले दिन ही ज्वरकी व्यथा भी आ पहुँचती है। किसीको अजीर्ण होकर दो चार दस्त अधिक आये कि बुखार भी तकलीफ देनेको आ जाता है। संसारमें कुछ ही पूर्ण स्वास्थ्य जीवी मनुष्य होंगे जिन्हें जीवनमें ज्वरकी व्यथा न हुई हो।

यह ज्वर कौनसी प्रबलसत्ता है? जो जनताको सबसे अधिक सताती है, इसका स्वरूप क्या है? और शरीरमें कैसे कट होता है? इसकी किन कारणोंसे उत्पत्ति होती है? और यह एक दो प्रकार है या भेदयुक्त हम इसकी मीमांसा रना चाहते हैं।

सम्भव है कुछ पाठक समझें कि ज्वर एक स्पष्ट साधारण सी व्यथा है, इसकी प्रतीति तो साधारण व्यक्तिको भी हो जाती है। रहा कारणका ज्ञान, उसे साधारण चिकित्सक देखते ही बता देता है। फिर कौनसी ऐसी पेंचीदा बात है जिसकी मीमांसा होगी ?

पाठको ! यह बात नहीं है। आजसे एक शताब्दी पूर्व-तक ज्वरके सम्बन्धमें चाहे मतभेद, कारणभेद व रूपभेद न रहा हो, इस समय काफी है। वैद्य ज्वरका जो कारण मानते हैं, उन कारणोंको दूसरे चिकित्सक नहीं मानते, इसी तरह जो रूप ज्वरका वैद्य निर्द्धारित करते हैं उसे अन्य चिकि-त्सक वैसा नहीं समझते।

वैद्योंके सामने जबतक एक शैली, एक जैसे विचार बने रहे, और वह सदा वस्तु स्थितिको जिस पूर्वके निर्द्धारित सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखते थे इस समय वैसे नहीं देखा जाता। समयके अनुसार इसमें बहुत कुछ अन्तर आ गया है। ज्वरका रूप, ज्वरका कारण, ज्वरकी स्थिति सब बदल गई है, इसलिये इस पर विवेचन करना आवश्यक हो गया है।

वैद्यमें ज्वर तो निदानशास्त्रका मूल है, समस्त रोगोंका राजा है किन्तु अन्य चिकित्सापद्धतियोंमें ऐसा नहीं है; यह एक अन्य व्यथाओं जैसी व्यथा है, वह भी प्रधानरूपमें

नहीं। इसीलिये इस पर विचार करना और उसकी वास्त-विक स्थितिका परिज्ञान कराना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

पाठकोंने मेरी लिखी त्रिदोष-मीमांसा, अर्थात् त्रिदोष-विषयक आलोचना, तो पढ़ी होगी। यह ज्वर मीमांसा कई अंशोंमें उससे अधिक विचारपूर्ण है। यह ज्वर मीमांसा ज्वरकी किसी आंशिक स्थिति पर प्रकाश नहीं डालती, प्रत्युत एतद्विषयक मीमांसा समस्त निदान भाग पर प्रकाश डालती है, यदि आयुर्वेदमर्मज्ञोंने इसको पढ़कर अपनेको समयके अनुकूल बनानेकी चेष्टाकी और इसके पढ़नेसे उन्हें कुछ लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूँगा।

वैद्यमात्रका हितेच्छु
हरिशरणानन्द

ज्वर-मीमांसा

पूर्वार्द्ध

शरीरके उत्तापका ज्ञान

जीवनको बनाये रखनेके लिये शरीरमें किन सत्ताओंकी उपस्थिति आवश्यक है? इस प्रश्नपर आयुर्वेदज्ञोंने विचार किया था। उनके मतमें शरीर, इन्द्रिय सत्व और आत्माका सानुबन्ध नित्य संयोग जीवन है। इसीका नाम आयु[2] भी है। पूर्वकालमें[1] यह आम विचार थे कि शरीर इन्द्रिय जड़ हैं। सत्व और आत्माके संयोगसे शरीरमें जीवनका आभास मिलता है। इन्हींके सानुबन्ध नित्य संयोग बने रहने पर जीवन-व्यापार चलता रहता है। उस समय मनुष्य अकस्मात् किसी कारणसे मृत्युको प्राप्त होता था, तो वह उस आकस्मिक कारणपर अधिक ध्यान नहीं देते थे। उनके विचारोंमें यह बात बैठी हुई थी कि जिस शरीर या योनिमें

---

१ शरीरेन्द्रियसत्वात्म संयोगाधारं जीवितम्। २ नित्यगं सानुबन्धं च पर्य्यायैरायुरुच्यते। वाग्भट।

आत्माके जितने कर्म-भोग होते हैं उतने दिन वह भोग, भोगकर उस शरीरको छोड़ जाता है। मृत्युके कारण नैमित्तिक होते हैं; वह एक बहाना है, वास्तवमें उसकी आयु पूर्ण हो चुकी होती है। यद्यपि आयुर्वेदज्ञोंने अकाल मृत्यु मानी है, तथापि इस मृत्युको भी दैवाधीन, कर्माधीन समझते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि शरीरसे आत्माको कोई भौतिक सत्ता इलहदा नहीं कर सकती।

एक मनुष्य अधिक सर्दी लगनेके कारण ठिठुरकर मर गया, एक दूसरा व्यक्ति गर्मीकी तपशसे लू खाकर प्राण त्याग बैठा या अग्निसे जलकर मर गया, इन कारणोंसे हुई मृत्युमें सर्दी, गर्मी आत्माको शरीरसे विच्छिन्न करनेमे कारण नहीं मानी जाती थी, प्रत्युत इसे कर्म-भोग माना जाता था। इसीलिये ऐसी आकस्मिक मृत्युओंके कारणों पर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। तभी तो हमें प्राचीन ग्रन्थोंमें उपरोक्त बातोंकी चर्चाका कोई प्रमाण नहीं मिलता। जबसे मनुष्योंमें विचार स्वातन्त्र्यकी वृद्धि हुई कुछ एकोंने सर्दी, गर्मीके आधिक्यसे प्राणियोंको मृत होते हुए पाया तो उन्होंने इसकी प्रायोगिक जाँच आरम्भ कर दी। देखा, कि मनुष्य अधिक गर्मी नहीं सहन कर सकता। इसी तरह अधिक सर्दी भी नहीं सहन कर सकता; सर्दी अधिक होने पर हाथ, पैर ठिठुरने लगते हैं, वह क्रिया रहित हो जाते हैं और व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसी तरह अधिक गर्मी

लगनेसे व्याकुलता, घबराहट, दाहादि बढ़ जाते हैं और शरीरकी व्यवस्था बिगड़ जाती है। गर्मीके घटने व बढ़नेका शरीर पर क्यों प्रभाव पड़ता है? शरीरकी उष्णताको देख कर यह बात जल्दी ही उनकी समझमें आगई। उन्हें ज्ञात हुआ कि शरीरकी व्यवस्था एक स्थिर उत्तापके बने रहनेके कारण है। शरीरमें उत्ताप सदा एक निश्चित मात्रामें रहता है, इसको उन्होंने अनेक विधियोंसे जाना और धीरे २ ऐसे यान्त्रिक साधन प्राप्त कर लिये जिनके द्वारा शरीरके उत्तापको नापनेमें वह समर्थ हो गये। किन्तु, हमारे यहाँ उत्तापकी स्थितिका ऐसा ज्ञान कोई न था, तभी तो ज्वर होनेके समय यह समझा गया कि मिथ्या[1] आहार, विहारसे दोष कुपित हो उठते हैं और वह कोष्ठाग्निको अपनी शक्तिसे बाहर निकाल देते हैं। वह अग्नि रसवाही स्रोतोंके द्वारा बाहर निकलकर सारे शरीरमें फैल जाती है, जिसे ज्वर कहते हैं। आयुर्वेदमें पित्तको ऊष्माका कारण, ऊष्माका रूप अवश्य मानते थे। पर वह ऊष्मा रूपमें व्यापक है ऐसा नहीं मानते थे।

शरीरमें उत्तापकी उत्पत्ति व स्थिति

शरीरकी व्यवस्था निश्चित उत्तापके कारण बनी रहती है, जब यह बात ज्ञात हुई तो इस बातकी खोज आरम्भ

---

१ मिथ्याहार विहाराभ्यां दोषाह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्नि ज्वरदाः स्युः रसानुगाः। माधव।

हुई कि गर्मी या उत्ताप शरीरके किन भागोंमें उत्पन्न होता है और वह स्थिर कैसे रहता है ? खोज करते करते पता चला कि ऊष्माकी उत्पत्तिका कारण भोजनका सात्म्यीकरण है। जो कुछ हम खाते हैं उन खाद्य द्रव्योंमें खानेके समय शरीरग्रन्थिके अनेक रस स्थान स्थान पर उससे मिलते रहते हैं। उन शरीरग्रन्थिजन्य रसोंके मिश्रणसे खाद्य पदार्थोंके कण एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलने लग जाते हैं, इस परिवर्त्तनके समय स्वतः ऊष्मा संजनित होता है। जैसे २ वह खाद्य द्रव्य रस बनकर आगे बढ़ता है, वैसे वैसे उसके कणोंमें परिवर्त्तन जारी रहता है और शरीरके अंगोंमे उसके सात्म्यीकरण तक ऊष्माकी उत्पत्ति होती ही रहती है।

किस भोजनीय द्रव्यके खानेसे शरीरमें कितनी ऊष्मा उत्पन्न होती है, नई नई विधियोंसे इसको जाननेकी चेष्टा की गई। यह तो अनुभवकी बात है कि जितनी गर्मी मांस, अण्डा सेवनसे सजनित होती है उतनी गेहूँ खानेसे नहीं होती। इसी तरह जितनी गर्मी दालोंके खानेसे उत्पन्न होती है उतनी फल, शाक खानेसे उत्पन्न नहीं होती। किस खाद्य पदार्थके खानेसे शरीरमें कितनी ऊष्मा बनती है इसको विद्वानोंने जाना और नापा। उन्होंने खाद्य वस्तुओंकी प्रति ५ तोला पीछे तापक मात्रा मालूम की।

---

१ तापक मात्रा उस इकाईका नाम है जिस ऊष्माके द्वारा आधा सेर जल गरम होकर चार अंश फार्नहाईट या १ शतांशसे कुछ अधिक तक गरम हो जाय। तापक calorie का पर्याय है।

हम उनकी निकाली हुई कुछ वस्तुओंके तापक मात्राको सारणी देते हैं—

खाद्योपयोगी पदार्थ	तापक मात्रा प्रति ५ तोला पदार्थ की
दुग्ध	३६·०
घृत	११५·०
मलाई	११०·०
गेहूँकी रोटी	२०४·०
चावल	१९८·०
उर्दकी दाल	२२६·०
मूँगकी दाल	२२८·०
चनेकी दाल	२४०·०
शर्करा (खांड)	२२६·०
गुड़	१६२·०
तेल सरसों	४२८·०

एक युवा मनुष्य दोनों समयमें जितना भोजन करता है यदि भोजनीय वस्तुएँ उत्तम श्रेणीको हों तो उस भोजनके सात्म्यीकरणसे २ सहस्रसे २॥ सहस्र तापक मात्राकी ऊष्मा संजनित हो सकती है।

शरीरका स्थिर ताप-मान जो जाना गया है वह ३७·० शतांश या ९८·८ फार्नहाईट है। यदि खाद्योत्पन्न ऊष्मा भी इसमें सम्मिलित होती रहे तो ऊष्मा विसर्जनकी स्थितिमें शरीरका तापमान ३७·० शतांश न रहकर

३८°० श० से भी कुछ ऊपर रहना चाहिए। किन्तु, देखा यह जाता है कि भोजन करने या न करने पर भी तापकी उस मात्रामें कोई अन्तर नहीं आता। इसका क्या कारण? इस बातका अनुसन्धान किया गया। धीरे २ समय पाकर ज्ञात हुआ कि खाद्य, पेय द्रव्यों द्वारा जितनी ऊष्मा शरीरमें संजनित होती है लगभग उतनी ही धीरे-धीरे यथाक्रम शरीरके तापवाहक मार्गोंसे विसर्जित होती रहती है। अनेक प्रयोगोंसे ज्ञात हुआ कि ७० प्रतिशतके लगभग तो ऊष्मा त्वचारन्ध्रों (मसामों) से विसर्जित होती रहती है तथा २५ प्रतिशत श्वास-प्रश्वास मार्गसे और अवशेष मल-मूत्र मार्गसे विसर्जित हो जाती है। इस प्रकार ऊष्माके आयात निर्यातका लेखा बराबर रहता है।

किन्तु शरीरमें ऊष्माके इस तरह आयात, निर्यातका व्यापार स्वतः चलता है या शरीरमें किसी नियमित प्रबन्धसे होता है—इसकी खोज की जाने लगी। बड़े परिश्रमके पश्चात् पता चला—ऊष्मा पर भी शरीरमें नियन्त्रण है। जिस तरह समस्त शरीरके जीवन-व्यापारको व्यवस्थामें बनाये रखकर उसे चलानेका काम मस्तिष्कके भिन्न २ केन्द्र स्थानों द्वारा होता है, ठीक इसी तरह उत्ताप नियन्त्रणका कार्य भी मस्तिष्कके मध्य हायपोफसिस ग्रन्थिके पार्श्व भाग थैलेमस नामक स्थानके कुछ अंश द्वारा होता है। जिस तरह पंच ज्ञाने-न्द्रियोंके व्यापारको समझने, जानने और नियन्त्रणमें रखकर

उनसे काम लेनेका व्यापार मस्तिष्कके कुछ सजीव कोषों द्वारा होता है ठीक इसी तरह वहाँ पर ताप नियन्त्रक कुछ सजीव कोष हैं, जो ताप नियन्त्रणका ही व्यापार करते हैं। शरीरका ताप इन्हींके नियन्त्रणमें रहनेके कारण एक सीमाके भीतर बना रहता है। यह नियन्त्रण-क्रम केवल मनुष्योंमें ही नहीं अपितु अन्य प्राणियोंमें भी पाया जाता है। किन्तु सबोंकी ताप मात्रा एक जैसी नहीं होती। भिन्न २ प्राणियोंमें अनुसन्धानसे जो परिणाम प्राप्त हुए उसे हम एक सारणी द्वारा व्यक्त करते हैं।

प्राणी	स्थिरताप शतांशोंमें	फार्नहाईटमें
मनुष्य	३७·०	९८·८
गौ, घोड़ा	३७·८	१००·०
बन्दर, चिपैन्झी	३८·१	१००·६
बिल्ली, कुत्ता	३९·०	१०२·२
सूअर	३९·१	१०२·४
बकरी, खरगोश	३९·५	१०३·१
मुर्गा, तीतर, कबूतर	४२·२	१०८·०

सरीसृपवर्गके कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जिनके शरीरकी ऊष्मा ऋतु-देश-कालानुसार बदलती रहती है। इसीलिये विद्वानोंने उत्तापकी स्थितिके अनुसार प्राणियोंके दो विभाग कर दिये है।

जिन प्राणियोंका उत्ताप स्थिर दिखाई दिया जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इन्हें स्थिरतापी या उष्णरक्ती नाम दिया। जिन प्राणियोंका उत्ताप स्थिर नहीं रहता उन्हें अस्थिरतापी या शीतरक्ती कहा। स्थिरतापी प्राणियोंमें एक विशेषता और पाई गई, वह यह कि ऋतु प्रभावसे आसपासके वातावरणका उत्ताप एकाएक घट जाय और शरीरको सर्दी अधिक सताने लगे तो उस स्थितिमें शरीरके बहुतसे अंग उपाङ्ग यथा—मांसपेशी, यकृत, वृक्क, उपवृक्क, प्रणाली विहीन ग्रन्थियां आदि कम्पन व गति द्वारा उत्ताप उत्पन्न करने लग जाती हैं। सर्दी लगने पर एकाएक जब कँपकँपी आती है उस समय मांस पेशियोंकी कम्पन-गतिसे ऊष्माका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकारकी क्रियासे घटनेवाले उत्तापमें बाधा खड़ी हो जाती है और इससे उत्तापके स्थिरीकरणमें सहायता पहुँचती है। इस प्रकारकी क्रियाओंके लिये जो प्रेरणा मस्तिष्कमें उठती है, वह उत्ताप नियन्त्रक केन्द्रसे ही उठती है। इसी प्रकार गर्मीके दिनोंमे जब आसपासका वातावरण अधिक उत्तप्त होता है, उस बाह्य जगत्का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। उस समय पसीना आता है। पसीनेके निकलनेसे भी शरीरकी बढ़ी हुई गर्मी घट जाती है, कुछ शीतल जलका बारम्बार सेवन सहायता करता है। इस स्थितिमें भी उत्ताप नियन्त्रक केन्द्र द्वारा ही शरीर पर प्रस्वेदन व तृषाके लिये प्रेरणा होती है। इस तरह शरीरके

उत्तापको नियन्त्रणमें रखनेके लिये नियन्त्रक केन्द्र द्वारा यह व्यापार सदा चलता रहता है।

उत्तापवृद्धिका कारण

शरीरमें इतना प्रबन्ध होने पर भी अनेक बार देखा जाता है कि अधिक गर्मीके दिनोंमें बहुतसे आदमी लू लगकर मर जाते हैं। सर्दीके दिनोंमें बहुत आदमी ठिठुर कर प्राण गँवा देते हैं। कई व्यक्ति सोचेंगे कि ऐसा क्यों होता है? इसको भी अच्छी तरह समझा जा चुका है।

जब मनुष्य चिन्ताग्रस्त हो रहा हो या अत्यन्त क्रुद्ध हो उस स्थितिमें उसे कोई काम करनेके लिये कहा जाय तो प्राय: देखा जाता है कि उसकी मति ठीक न रहनेके कारण उस कामको वह व्यवस्थित नहीं कर सकता। कई बार कुछका कुछ कर बैठता है। ठीक यही दशा उस समय मस्तिष्ककी भी हो जाती है जब कोई शीत, उष्ण या विषादि प्रभावकारी कारण मस्तिष्कको प्रभावित करें। उस समय मस्तिष्कके कार्यकर्त्ता उस प्रभावसे विचलित हो उठते हैं, और इसी कारण शरीर की ऐच्छिक, अनैच्छिक क्रियाओंमें अव्यवस्था व व्याघात उत्पन्न हो जाता है। उस समय उत्ताप नियन्त्रक केन्द्र शरीरके उत्तापकी व्यवस्थाको सँभाल नहीं सकता। इसीसे एकाएक उत्ताप घट या बढ़ जाता है और अनैच्छिक गतियोंमें अवसाद हो तो मृत्यु तक हो जाती है।

विशेष ज्वरोंकी स्थितिमें प्रयोगोंसे जाना जा सका है कि जो विष उत्पन्न होता है उसकी मात्रा जबतक कुछ न कुछ विद्यमान रहती है, उत्ताप नियन्त्रक केन्द्र विक्षुब्ध बना रहता है। इसीसे शरीरमें उत्तापकी मात्रा बढ़ी रहती है, जिसे विशेष ज्वरके नामसे अभिहित किया जाता है।

पूर्वकालमें इस तरहके स्थिर उत्तापका स्पष्ट बोध हो जाता तो उस समय इसे त्रिदोष-सिद्धान्त द्वारा सिद्ध करनेमें कोई कठिनाई न थी। दोषोंको शरीरका मूल[1] कारण मानते ही थे। और आयुर्वेदज्ञ यह भी मानते थे कि पित्तके[2] बिना ऊष्मा नहीं होती। अग्नि[3] ही पित्तके अन्तर्गत है। साथमें ऊष्माको पित्तका रूप, गुण भी कहा है। जब पित्त शरीरकी कारणीभूत सत्ता हो तो उस पित्तसे या पित्तका ही रूप ऊष्माका शरीरसे सदा सम्बन्ध बना रहना कोई असंगतिकी बात न थी। वह ऐसा न कर यही करते कि जिस पाचक अग्निको द्रवता धर्म रहित कहा था उसी तिल प्रमाण अग्निकी शरीरमें विद्यमानतासे शरीर सदा स्थिरतापी बना रह सकता है, ऐसा सिद्ध करना अधिक युक्तियुक्त बात थी और इसकी साम्य, असाम्य अवस्थाको भी निम्नलिखित तर्कसे सिद्ध किया जा सकता था।

---

१ दोष धातु मल मूलं हि शरीरम्। २ ऊष्मापित्तादृते नास्ति। ३ अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः। चरक।

यथा—पाचक अग्नि जब तक साम्यरूपमें रहती है तबतक शरीरकी व्यवस्था शरीरकी ऊष्मा स्थिर बनी रहती है जब यह अग्नि मिथ्या[1] अहार, विहारसे असाम्य होकर रसादि धातुओंका आश्रय ग्रहणकर त्वचाकी ओर बाहर आती है तो ऐसी स्थितिमें तापकी स्थिरता जाती रहती है। इसी स्थितिका नाम ज्वर है। इस प्रकारके युक्ति-युक्त विचारोंको चाहे इस समय कुछ परिवर्त्तन परिवर्द्धन कर मानना पड़ता, किन्तु कोई यह तो न कहता कि इन्हें ऊष्मा सम्बन्धी विचारोंका पता न लग सका था। खैर! हम समझते हैं कि वैद्यगण अब भी जो सचाई है—उसे देख समझ कर ग्रहण करलें-फिर भी कुछ बिगड़ा नहीं।

दाह, सन्ताप और ज्वर

दाह—आयुर्वेदज्ञोंने दाहको पित्त प्रकोपके ही कारणसे माना है और सन्तापको ज्वरका पर्याय माना है। किन्तु, इस समय दाह पित्तके कारण होता है ऐसा नहीं मानते। दाहके सम्बन्धमें यह निश्चय है कि शरीरमें दाह उस समय होता है जब रक्तकी नियमित भ्रमणशील गतिमें जहाँ जहाँ बाधा होती है वहाँ वहाँ दाह उत्पन्न हो जाता है। रक्त जिस स्थान पर जितने वेगसे पहुँचता है उसी हिसाबसे जब वहाँसे

१ मिथ्या हारविहाराभ्यां दोषाह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्युः रसानुगाः। माधव।

वापस नहीं होता, रुककर वापस होता है तो उन स्थानोंमें दाह हो जाता है। व्रणोंमें, विष खानेसे जो दाह होता है वह भी उक्त स्थितिके उत्पन्न होने पर ही होता है।

दाहमे स्थिर उत्ताप नही बढ़ता। किन्तु, शरीरमें प्रतीत ऐसा होता है मानो सर्वांगको या एकाङ्गको कोई जला रहा है। स्पर्शसे भी जिस अंगमें दाह हो वह अधिक उष्ण प्रतीत होता है किन्तु उसकी स्थानिक स्थितिके कारण शरीरके उत्तापमें बहुत कम परिवर्त्तन होता है। दाह प्रायः स्थानिक होता है। विषजन्य दाह व्यापक होते हैं। किन्तु उनमें भी ज्वरका प्रायः अभाव होता है। ताप नियन्त्रक जब प्रभावित हो तभी ज्वर होता है। दाहमें ताप नियन्त्रक प्रायः अप्रभावित रहता है। इसीलिये दाहको ज्वरसे भिन्न माना जाता है।

सन्ताप—यद्यपि सन्ताप ज्वरका पर्याय[1] और उसका प्रत्यात्मक चिह्न माना गया है और है भी, तथापि इस समय इसको विशेष ज्वरोसे भिन्न माना गया है। क्योंकि ज्वरोंमें विशेष भेद उत्पन्न हो गया है। इस समय सन्ताप उस साधारण ज्वरके लिये प्रयुक्त हुआ है, जो एक दो दिन तक रह कर स्वतः जाता रहता है।

यथा—प्रतिश्याय होने पर जो ज्वर हो जाता है प्रायः तीसरे दिन उतर जाता है। अधिक परिश्रम करनेसे थकावटके

---

१ ज्वर प्रत्यात्मकं लिङ्गं सन्तापो देह मानसः। चरक।

कारण जो ज्वर हो जाता है, स्वतः जाता रहता है। साधारण उदर विकृतिसे जो ज्वर होता है दो दिन में स्वतः या ओषधी लेने पर जाता रहता है, इन साधारण ज्वरोंको संतापके नामसे अभिहित करते हैं। सन्ताप और ज्वरमें काफी अन्तर है। सन्तापमें या साधारण ज्वरोंके होनेमें शरीरकी अधिक हानि नहीं होती, एक तो यह इसमें विशेषता है, दूसरे सिरदर्द, सर्वांग ग्रहण, तृषा, व्याकुलताके लक्षण उग्र नहीं होते, साधारण रूपमें ही रहते हैं। इसी-लिये इसे सन्ताप[1] या साधारण ज्वर कह सकते हैं।

ज्वर—जब शरीरका स्थिर उत्ताप एकाएक या श्रमादि लक्षणोंसे[2] संयुक्त होकर बढ़ जाय और जिसके साथ उपद्रव भी बढ़ें और वह ज्वर प्रायः अवधिबन्धी हो, जिसके प्रथम बारके होने पर ही शरीरको अधिक हानि पहुँचे ऐसे बढ़े हुए उत्तापकी ज्वर संज्ञा है।

एक और बात स्मरण रखने योग्य है। सन्तापमें प्रायः सन्निकृष्ट कारण होते हैं, ज्वरमें प्रायः विप्रकृष्ट कारण विद्यमान होते हैं।

---

१ सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदिव्यथा। ज्वरः प्रभावः।
२ श्रमोऽरति विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः। इच्छा द्वेषौ मुहुश्चापि शीत वातातपादिषु॥ जृम्भाङ्गमर्दोगुरुतारोमहर्षोऽरुचिस्तमः। अप्रहर्षश्चशीतं च भवत्युत्पत्स्यतिज्वरे॥ माधव।

सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट कारण

शास्त्रकारोंने रोगोत्पत्तिमें वातादि शरीरस्थ दोष कोपको सन्निकृष्ट कारण और विरुद्धाहारादि अन्य बाह्य कारणोंको विप्रकृष्ट माना है। हम सन्निकृष्ट और विप्रकृष्टको इस अर्थमें नहीं लेंगे। हम तो सन्निकृष्ट उस समीपी कारणोंको मानते हैं जिनके द्वारा उत्पन्न रोग प्रायः साधारण होते हैं तथा उनसे शरीरको अधिक हानि नहीं पहुँचती। विप्रकृष्ट उन कारणोंको मानते हैं जिनका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु वह शरीरमें किसी मार्ग द्वारा प्रवेश करके शरीरमें बढ़ते हैं और अपने प्रभावसे शरीरको अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं, ऐसे कारणोंको विप्रकृष्ट कारण कह सकते हैं। हम संताप और ज्वरसे इन दोनों कारणोंको भिन्न २ रूपमें पाते हैं।

यह ठीक है कि आयुर्वेदमें सन्निकृष्ट कारणजनित ज्वर या विप्रकृष्ट कारणजनित ज्वरके नामसे तो कोई ज्वर नहीं पाये जाते, किन्तु प्राकृत ज्वर और वैकृत ज्वरके नामसे जो भेद दिये गये हैं वह इनसे मेल खाते हैं। सन्निकृष्ट ज्वरको प्राकृतके नामसे तथा वैकृत ज्वरको विप्रकृष्टके नामसे अभिहित किया जा सकता है। क्योंकि आयुर्वेदज्ञोंने

---

१ वातादि सन्निकृष्टं च तथाहारादि सम्भवम्। अपरं विप्रकृष्टं च रोगाणां कारणद्वयम्॥ वाग्भट।

साधारणतः ऋतु परिवर्त्तनादि तथा वातादि एक एक दोषोंके कोपसे उत्पन्न होनेवाले ज्वरको प्राकृत ज्वरका नाम दिया है और इनको सुख साध्य माना है, वैकृतको दुःसाध्य। वैकृत ज्वरका नाम सामज्वर भी दिया है और सामज्वरकी उत्पतिके सम्बन्धमें बताया है कि यह ज्वर निम्नलिखित कारणसे होता है:—

यथा—मनुष्योंमें दूषित[२] जलके अधिक पीनेसे आम वृद्धि होती है, आम वृद्धिसे मन्दाग्नि होती है, मन्दाग्निसे अजीर्ण होता है और उस अजीर्णसे वैकृत ज्वरका प्रादुर्भाव होता है। आयुर्वेदज्ञ कहते हैं कि ऐसे ज्वरको उत्पन्न करनेमें और भी कई एक कारण[३] एकत्र हो जाते हैं, और वह कारण भी बलवान् होते हैं ऐसे ज्वर अनेक व्यापक लक्षणोंसे युक्त देखे जाते हैं, ऐसे वेगवान् ज्वर शीघ्र इन्द्रियोंका नाश करनेवाले होते हैं। क्योंकि ऐसे ज्वरोंके उपद्रव वेगवान् होते हैं, इसीलिये प्रवृत्ति, ज्ञान जाता रहता है और क्षुधा नष्ट

---

१ वर्षा शरद्वसन्तेषु वाताद्यैर्जायते क्रमात्। प्राकृतो वैकृतो ऽसाध्यः साध्यः सामो निरामकः॥ माधव॥ २ जलाधिक्यं मनुष्याणां आमवृद्धिः प्रजायते। आम वृध्यात्तु मन्दाग्निमन्दाग्नेश्चाप्यजीर्णता॥ अजीर्णेन ज्वरोत्पत्तिः। ३ हेतुभिर्बहुभिर्जातो वलिभिर्बहु लक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रिय नाशनः॥ ज्वरोपद्रव तीक्ष्णत्वं अग्लानिः वहुमूत्रता। अप्रवृत्तिर्नविशौऽजीर्ण न क्षुत्सामज्वरा कृतिः। वृन्द।

हो जाती है। यहाँ पर ग्रन्थकारने सामज्वरमें अनेक हेतुओंकी ओर जो संकेत किया है, अनेक हेतुओंमें से कुछ हेतुओंका तो ग्रन्थकार स्पष्ट उल्लेख करते हैं, कुछ हेतुओंका केवल संकेत मात्र ही मिलता है। क्योंकि उनमेंसे कई हेतु सूक्ष्म होनेके कारण दिखाई नहीं देते। वह सूक्ष्म हेतु कौनसा है? आयुर्वेद ग्रन्थोंमें यद्यपि इसका विशद वर्णन नहीं दिया गया है तथापि इसका आभास उन्हें मिला था, ऐसा ज्ञात होता है। चरकमें एक स्थान पर लिखा है सूक्ष्म कारणसे अभिप्राय है अदृश्य कारण। इस समय ऐसा कोई भी रोगोंका कारण जो पाया जाता है वह जैवीवर्गके अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी जिन्हें जीवाणु कीटाणु कहते हैं वह हैं। जैवी जगत्से भिन्न इतना सूक्ष्म और अदृश्य दूसरा कारण इस समय दिखाई नहीं देता। इसी कारण इसे विप्रकृष्ट कारण भी माना जा सकता है।

क्योंकि इस समय यह किसीसे छिपा नहीं कि आहारादि स्वतः रोगोत्पादनमें प्रधान कारण नहीं हैं, प्रत्युत उस आहारका आधार लेकर भोजन द्वारा जो जैव शरीरके भीतर घुस जाते हैं वही विशेष २ रोगोंके कारण बनते हैं। इसलिये भोजन निमित्त हुआ। पूर्वकालमें इस बातका भी आभास लग गया था कि खाद्य, पेय द्रव्योंसे भिन्न और

---

१ सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः। अष्टांग हृदय। २ सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः। चरक।

इन सूक्ष्म अदृश्य कारणोंका शरीरमें अनेक प्रकारसे प्रवेश होता है इसको सुश्रुतजीने अच्छी तरह भांपा था। वह कहते हैं—[1]प्रसंगसे, छूनेसे श्वास-प्रश्वासकी वायुसे, परस्पर मिलकर भोजन करनेसे, एक साथ सोनेसे, उतारे वस्त्र व उतारी हुई माला पहिरनेसे, कुष्ठ, ज्वर, शोष, नेत्र दुखना आदि अनेक प्रकारके औपसर्गिक रोग एकसे दूसरे मनुष्यको लग जाते हैं। एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यको रोगका लगना, इस बातको स्पष्ट करता है कि वह रोगके कारणको समझ गये थे। सुश्रुत टीकाकार डल्हणको सुश्रुतजीके बताये संक्रमणशील रोगोंमेंसे कई अन्य रोगोंका भी पता लगा था। वह सुश्रुतकी टीकामें उक्त स्थल पर कहता है कि [2]जनसम्पर्कसे होनेवाले उपसर्गज रोग ज्वर, मसूरिकादि कई हैं, जिनसे जन-समूह पीड़ित होता है और वह यह भी स्पष्ट करता है कि [3]मसूरिका आदिका संचार त्वक्इन्द्रिय द्वारा अर्थात् क्षत मार्गसे होता है। जब इस तरह कुछ व्याधियोंका सञ्चार प्राचीन आचार्योंने माना था तो इससे स्पष्ट है कि उस समय इस कारणका जितना आभास मिला उन्होंने

---

१ प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सह भोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ सुश्रुत।

२ उपसर्गजा ज्वरादि रोग पीड़ित जन सम्पर्काद्भवन्ति। डल्हण।

३ त्वगिन्द्रिय गतेन ज्वर मसूरिकादयः संचरन्ति। डल्हण।

उसका उल्लेख कर दिया था। जिस तरह सुश्रुतजीने उपसर्गज रोगोको जाना था उनके पश्चात् डल्हणने मसूरिकाके संक्रमणको मालूम किया, इसी तरह यदि इसको आगेके वैद्य भी और संक्रामक रोगोंका कारण ढूँढ़ते तो वह अन्य ज्वरों व रोगोंके सम्बन्धमे बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर लेते। उन्हें ज्ञात हो जाता कि कौनसे रोग सन्निकृष्ट कारणोंसे होते हैं और कौनसे विप्रकृष्ट कारणोंसे। अर्थात् कौनसे संचारी हैं कौनसे असंचारी। किन्तु, शोक है कि लगभग दो सहस्र वर्ष तक वैद्योंने इधर ध्यान ही नहीं दिया। वास्तवमें उनका काम दोषवाद द्वारा अच्छी तरह चल रहा था। उस समय उनके इस वादका प्रतिगामी कोई न था। किन्तु, दो सहस्र वर्षके बाद समयने पलटा खाया। अनुसन्धानके द्वारा नये २ साधनोंकी खोज होने लगी, जिसके परिणाम स्वरूप ऐसी यान्त्रिक सामग्रीका आविष्कार हुआ जिसकी सहायतासे लाखोंगुना नेत्र दृष्टिसे परेकी सूक्ष्म वस्तुएँ देखी जाने लगीं। उसीके परिणाम स्वरूप अनेक विप्रकृष्ट कारणों (जैवों) का पता लग सका। वरना इसका ज्ञान अन्य विधिसे सम्भव न था। सबसे पहिले इस बातका पता फ्रान्सके पाश्चुर नामक विद्वान्को १८६५ ईसवीमें लगा। उसे ज्ञात हुआ कि कुछ संक्रामक रोगोके कारण ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म जैव (Germs) हैं जिनका कोई भी व्यक्ति दृष्टि-शक्ति द्वारा आभास नहीं पा सकता। यह अणुवीक्ष्य थे, इसीलिये उसने इनका नाम अणुवीक्ष्यीय

(Microbes) रखा। उसने गणित द्वारा इनकी आकृति नापी तो पता चला कि इनका आकार एक त्रसरेणुके सहस्रांशसे भी छोटा है। और यह सूईकी नोक पर सैकड़ों बैठ सकते हैं। उस समयसे लेकर आज ७४ वर्ष तक जो इसके सम्बन्धमें अनुसन्धान होते चले आये हैं उन खोजोंके परिणाम स्वरूप आज ६०-६२ बीमारियाँ विप्रकृष्ट या जैवी कारणोंसे होती हैं, ऐसा जाना जा चुका है।

विप्रकृष्ट रोग

नाम रोग—मन्थरज्वर, रक्तविद्रूपीज्वर, प्लेग तरंगीज्वर, राजयक्ष्मा, फुफ्फुसप्रदाहीज्वर, शीर्षमण्डलप्रदाहीज्वर, विषमज्वर, कालमेहीज्वर, कालज्वर, चित्रालीज्वर, अस्थिभंजी ज्वर, पीतज्वर, मसूरिका, कण्ठारोहण, गोमसूरिका, लघुमसूरिका, रोमान्तिका, वालाक्षेपीज्वर, प्रसूतिकाज्वर, परिवर्त्तीज्वर, श्वसनकज्वर, विसर्प, परिसर्प, मूषकविषज्वर, स्फोटीज्वर, अतिनिद्रा ज्वर, कर्णपालीज्वर, काली खांसी, अरूणीज्वर, आमवातज्वर। उक्त विप्रकृष्ट रोगोंमें न्यूनाधिक ज्वर अवश्य होता है। इसीलिये इन्हें ज्वर प्रधान लक्षणवाले रोग भी कह सकते हैं। किन्तु इनसे भिन्न बहुतसे ऐसे भी विप्रकृष्ट रोग हैं जिनमें ज्वर नहीं होता।

यथा—उपदंश, सुजाक, जैवीअतिसार, जैवीप्रवाहिका,

विसूचिका, कुष्ठ, दद्रु, मण्डल कुष्ठ, सिध्म, कण्डु, दुष्टकण्डु, चम्बल, वर्षाकालीनवालपिटिका, धनुर्वात, फुफ्फुसावरण प्रदाह, कक्षा, जल संत्रास, श्लीपद, स्नायुक, क्लिन्नवर्त्म, चर्मरसपिटिका, कनारजप्रतिश्याय, फंगस, (दुष्ट ग्रन्थि) पायोरिया, कैन्सर, लाहौरी सोर. वातरक्त जैवीअभिष्यन्द आदि ।

उक्त समस्त रोगोंके सम्बन्धमें यह अच्छी तरह निश्चित हो चुका है कि जबतक इन रोगोंके कारणीभूत जैव शरीरमें नहीं पहुँचते, वह रोग किसी अन्य मिथ्या आहार-विहारादि कारणोंसे उत्पन्न हो ही नहीं सकते । उक्त रोगोंके प्रादुर्भावके लिये इनके जैवोंका किसी-न-किसी मार्गसे शरीरमें प्रवेश अत्यावश्यक है । औपसर्गिक रोग होते ही इन विप्रकृष्ट कारणों द्वारा हैं, यह मत अब निश्चित रूपसे सिद्धान्त बन चुका है ।

तो क्या आयुर्वेदज्ञ इन जैवी कारणोंको (कीटाणुवादको) मान लें ? व्यवहारमें तो हम देखते हैं कि जितने भी पठित वैद्य हैं, वह सब इस जैव सिद्धान्तके अनुकूल आचरण करते हैं । किसी रोगीको देखते हैं कि इसे राजयक्ष्मा है तो परिवारवालोंको उस रोगकी छूतसे बचनेके लिये स्वच्छताके उन नियमोंका आदेश करते है जो आवश्यक है । प्लेगके दिनोमे मैने स्वयम् देखा है कि अनेक वैद्य प्लेगके रोगीको देखनेके लिये इस भयसे नहीं जाते थे कि

कहीं रोगीकी छूत न लग जाय। जब एक बातको हम व्यवहारमें मानते हैं तो मेरे विचारमें उसे सिद्धान्तरूपसे मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

मैं समझता हूँ कि आयुर्वेदज्ञोंके सामने जैव सिद्धान्तको मान लेनेपर यह अड़चन खड़ी हो जाती है कि उसके मानने पर त्रिदोष-सिद्धान्त जाता रहता है। कई आयुर्वेदज्ञोंके मनमें यह बात बैठी हुई है कि आयुर्वेदसे त्रिदोष सिद्धान्तको हटा दिया जाय, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्राचीन निदानका सारा ढाँचा बदल देना पड़ेगा। नये सिरेसे नये कारणोंको लेकर निदान, निघण्टु गढना होगा। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो तो आयुर्वेदका रह क्या गया? त्रिदोष सिद्धान्त गया तो सब कुछ गया। ऐसा समझना भूल है। हम त्रिदोष सिद्धान्तको रखकर भी जैव सिद्धान्तको अपना सकते हैं। यह एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं।

अबतक समस्त रोग तो जैवी पाये नहीं जाते। अर्धांग, अर्दित, आमवात, अर्श, भगन्दर, कास, श्वास, प्रतिश्याय, शूल, अतिसार, पाण्डु, जलोदर, बेरीबेरी, स्करवी आदि सैकड़ों व्याधियाँ ऐसी हैं जिनमें कोई जैवी कारण नहीं होता, न अबतक देखा गया है। इन रोगोंका कारण वैद्य ही नहीं प्रत्युत एलोपैथीवाले भी वही मिथ्या-आहार, विहार-जन्य दोष प्रकोपको ही मानते हैं। यद्यपि यहाँ पर उनका दोष हमारे दोष-सिद्धान्तसे नहीं मिलता, तथापि कारण तो

सम, समीपी, मिलते जुलतेसे हैं। वह रोगोंके लिये एक साधारण दूसरा विशेष कारण मानते है। हम भी एक सन्निकृष्ट दूसरा विप्रकृष्ट ऐसे दो कारण मानते हैं। बात केवल अब इतनी ही रह जाती है कि इन दोनो कारणोंके अर्थ कुछ बदलकर अधिक व्यापक बना दिये जायँ।

सन्निकृष्ट कारणमें वातादि दोप, आहार दोप, ऋतुवैपरीत्य दोष आदि समस्त अजैवजनित दोषोंको सन्निहित कर लेना चाहिये और इसे आधार मानना चाहिये, विप्रकृष्ट कारणको आधेय। विप्रकृष्ट कारणमें समस्त जैवजनित कारणको स्थान देना चाहिये। यह प्रायोगिक बात है कि जैवोंका निवास वायु, जल, दुग्ध अन्नादि आहारीय द्रव्यों पर अधिक होता है। मलिन तथा छूत लगे वस्त्रादि और मक्खी, मच्छर भी इनके आधार हैं। किन्तु इन जैवोंका हमारे शरीरमें प्रवेश उक्त आधारोंके ही द्वारा होता है; एक बात और बड़े महत्त्वकी है। यहाँ पर यह अच्छी तरह जाना जा चुका है कि प्राय: जैवी रोग होते ही उस स्थितिमे हैं जब शरीर मिथ्या आहार, विहार दोषसे दूपित हो रहा हो। जब तक शरीर मिथ्या आहार दोषसे दूपित न हो और शरीरमे कोई साधारण रोग न हुआ हो उस समय तक शरीर जैवी आक्रमणसे बचा रहता है। प्राय: देखा जाता है कि साधारण प्रतिश्यायके

---

१ व्याधेरेकस्य चानेका वहूना वह्वय एव च। एका शान्तिरनेकस्य तथैकैकस्य लक्ष्यते॥ २ कश्चिद्धि रोगोरोगस्य हेतु

पश्चात् ही श्वसनक ज्वर, फुफ्फुसप्रदाहीज्वर आदि रोग होते हैं। इसी तरह साधारण ज्वरके पश्चात् ही मन्थरज्वर, राजयक्ष्मा आदि ज्वर होते देखे जाते हैं। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शरीरमें अन्य वातादि दोषोंका प्रकोप प्रथम होता है और शरीर इस स्थितिमें अक्षम रहता है तभी इनका आधार प्राप्त कर विप्रकृष्ट कारण आ घुसते हैं और फिर उन्हें विशेष रोग उत्पन्न करनेका अवसर मिल जाता है। इस तरह आयुर्वेदका त्रिदोषवाद तथा अन्य शास्त्रीय हेतु साधारण व विशेष रोगोंमें सर्व प्रथम कारणीभूत पाये जाते हैं। त्रिदोष सिद्धान्त तो जैव सिद्धान्तका आधार बन जाता है, न कि विरोधी।

दोष क्या है ?

आयुर्वेदज्ञोंके मतमें वात, पित्त और कफको ही दोष माना जाता है, किन्तु हम केवल तीनको ही दोष माननेके लिये तय्यार नहीं। जो भी कारण शरीरको दूषित[1] करे हम तो उन समस्त कारणोंको दोषके अर्थ में लेंगे। इसी तरह जितने भी कारण शरीरको मलिन करनेवाले होंगे उनको मल कहेंगे। हम तो दोष शब्दको व्यापक अर्थमें लेंगे। वैद्योंको भी इस समय दोष शब्दका व्यापक अर्थमें प्रयोग करना चाहिये।

भूत्वा प्रशाम्यति। न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥ माधव।

१ शरीर दूषणाद्दोषा, मलनीकरणान्मलाः।

जब ग्रन्थकार सीधी तरह कहता है कि अजीर्ण[1] दोषसे ज्वर होता है तो अजीर्णको दोष मानना चाहिये। मिथ्या आहारको ही स्वतः दोष मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसी तरह जहाँ पर समस्त रोगोका निश्चित कारण कुपित[2] मल कहा है वह मल उदरस्थ, शरीरस्थ जो भी इस समय देखे जायँ उनका नामकरण करके उन्हे ही मल मान लेनेमें शास्त्र-सम्मतिसे मेरी मतिमे कोई विरोधाभास नहीं होता।

यथा—आगन्तुक कारणोंमें शास्त्र प्रथम आगन्तुक विकारको ही कारण कहता है, फिर कहता है कि पश्चात् उसमे वात, पित्तादि दोषोंका संयोग होता है। जब आगन्तुकका एक कारण स्पष्ट है तो दूसरा अन्य कारण यदि न मिलाया जाय तो भी उसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

हाँ! दूसरे कारणकी स्थितिका प्रमाण मिले तो मान लेनेमे कोई हानि नहीं। जैसे, एक व्यक्तिको चोट लगी और घाव हो गया। चोट एक कारण हुआ, अब उस चोट-जन्य घावमे पूयोत्पादक जैव बाह्य मलिनताके कारण आ घुसे और उसमें पूय उत्पन्न होने लग पड़ा, तो ऐसी स्थितिको देखकर इस विप्रकृष्ट कारणके होनेका अनुमान कर लेना और मान

---

१ दोषोऽजीर्णोज्वरं कुर्य्यात्। शार्ङ्गधर। २ सर्वेषामेव रोगाणां निदान कुपिता मलाः। माधव।

लेना न्याययुक्त है। क्योंकि इसका प्रमाण यदि, वहाँ जैव हैं तो प्रत्यक्ष दर्शनसे भी मिल जाता है। किन्तु हम इस विप्रकृष्ट कारणको न मानकर पूयमें श्लेष्मको और दर्दमें वातको तथा दाहके साथ दर्द होनेमें पित्तका अनुमान करें तो यह केवल अनुमान, उपमान ही होगा; प्रायोगिक प्रत्यक्ष नहीं। ऐसे सिद्धान्तको अब समयोपयोगी नहीं कहा जा सकता। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि आयुर्वेद प्रत्यक्ष प्रायोगिक शास्त्र है। इसके हर एक अंशका प्रत्यक्ष प्रायोगिक अनुभव मिलना ही चाहिये। जितना मिल चुका है, उसे क्रमयुक्त करना चाहिये। तथा जो नहीं मिला है, उसका अनुभव प्राप्त करना चाहिये।

इस तरह हम दोष शब्दको व्यापक अर्थमें ले लेंगे तो सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि जिन २ रोगोंमें शरीरको दूषित करनेवाले कारण होंगे उनका अनुसन्धान करने, जाननेका हमें अवसर मिल जायगा। दूसरे किसी भी चिकित्सा प्रणाली द्वारा जाना हुआ कोई दोष[1] या हेतु—जो वास्तवमें शरीरको दूषित करनेवाला होगा—उसे

---

१ दिवा निद्रा जलाधिक्यं रात्रौ जागरणं तथा। मल मूत्रावरोधश्च व्यवायस्त्वादि कारणम्। अव्यायामोऽतिव्यायामो मिथ्याहारस्तु यद्भवेत्। एते सर्वेषु रोगेषु दोषाणां मुख्य कारणम्। हारीतसंहिता।

हम उसी दोषके नामसे ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे।

डाक्टर हैनीमैनने क्या किया था? बस, यही कि जो रोगोंके वास्तविक कारण वैज्ञानिकों द्वारा जाने गये थे उन्हें वैसा ही मान लिया। और रोगोमें उसने लक्षणोंका चुनाव करके उन लक्षणोंके आधार पर अपनी चिकित्साकी नींव रखी। इसी तरह हमारे लिये भी इसमें कोई बाधा नहीं आनी चाहिये। हम इसके सम्बन्धमें एक उदाहरण द्वारा अपने विषयको स्पष्ट करेंगे—जल-चिकित्सकोंका सिद्धान्त है कि शरीरमें धीरे २ कुछ ऐसे अयोग्य अग्राह्य पदार्थ संचित हो जाते हैं जो शरीरके व्यापारमें सदा बाधक बने रहते हैं, उन पदार्थोंके संचयसे शरीरमें रोगोंकी उत्पत्ति होती है। उन हानिकर पदार्थोंको वह फॉरन मैटर कहते हैं। हम इन्हें मल दोष कह सकते हैं। वह इन्हें जल-चिकित्सासे निकालते हैं। हम इन्हें पंच कर्मसे या अन्य औषध प्रयोगसे निकाल सकते है, किन्तु इनका फॉरन मैटर वास्तवमे कोई अग्राह्य, अयोग्य ऐसा मल है जो शरीरमें रह सकता है तो, हम उसे अपना आयुर्वेदीय नाम देकर वैसा ही मान लें इसमें कोई हानि नहीं। वस्तु तो एक है। वस्तुत्वकी स्थितिमें कोई मिथ्यापन या कल्पनाका केवल रूप नहीं होना चाहिये। उस तरहके साधारण परिवर्त्तनसे आयुर्वेदके सिद्धान्त एक व्यापक और वैज्ञानिक सिद्धान्त बन सकते हैं और आयुर्वेदकी सीमा बहुत व्यापक हो जाती है।

ज्वर रोग है या लक्षण ?

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि ज्वर कोई रोग है या किसी रोग विशेषका लक्षण मात्र। जहाँ तक आयुर्वेदका सम्बन्ध है वह तो इसे रोग[1] भी कहता है और लक्षण भी मानता है। किन्तु यह है क्या? इसपर कोई मतभेद नहीं, चाहे इसे कोई रोग माने चाहे लक्षण, कोई विवाद नहीं दिखता, पर ऐसा होना अनुचित है। रोग और लक्षणमें बड़ा अन्तर है। क्योंकि रोगमें प्रागूरूप, रूप और लक्षण समूह तीन बातें एकत्र रहती हैं। लक्षण स्वतः लाक्षणिक होता है। इस तरह इसका विवेचन स्वतः आयुर्वेदज्ञ करते हैं।

यथा—रोग[2]का विनिश्चय निदान प्रागूरूप, रूप (लक्षण) और उपशय (चिकित्सा) सम्प्राप्तिसे होता है। ज्वरमें यह समस्त बातें नहीं पाई जातीं। ज्वरका लक्षण शास्त्रकार करता है—ज्वर[3] एक रूपवाला है और सन्ताप ही उसका एक लक्षण है। निरु[4]क्ति भी सन्तापद्योतक ही दी गई है। ऐसी स्थितिसे

---

१ देहेन्द्रियमनस्तापी सर्व रोगाग्रजो बली। चरक। अथवा—सर्वेषु रोगेष्वपि रोगराजो ज्वरः। २ रोग निदान प्राग्रूप लक्षणोपशयाप्तिभिः। वाग्भट। अथवा—सोपद्रवारिष्ट निदान लिंगैः। ३ ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिंगमुच्यते। चरक। ४ ज्वरयति रुजयति सन्तापयतीति ज्वरः।

तो ज्वर रोग नहीं बनता। यह तो स्पष्ट है कि शरीरकी बढ़ी हुई उत्तापकी स्थितिको ज्वर माना गया है। जब ज्वर केवल उत्तापकी बढ़ी हुई स्थिति हो, तो वह रोग तो किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता। यह एक लक्षण हो जाता है। क्योंकि लक्षण किसी उपद्रवके उठने पर ही दिखाई देता है और उपद्रवके शान्त होने पर वह भी शान्त हो जाता है। ज्वरमें यही बात पाई जाती है। अनेक रोगोंमें उपद्रवोंके बढ़ने पर यह बढ़ता है और उनके घटने पर घट जाता है।

लक्षण भी दो प्रकारके होते हैं—एक साधारण, दूसरे विशेष। साधारण लक्षण तो वह हैं जो स्वतः अपने लाक्षणिक प्रभावसे ही शरीरको प्रभावित करते हैं। जैसे हिक्का, कास, दर्द। इनके साथ लक्षण समूह नहीं होते किन्तु, विशेष लक्षणोंमें उस लक्षणके साथ अन्य लक्षण भी होते हैं, जैसे, ज्वर। ज्वर होनेके समय या उसके साथ ही स्वेदावरोध[1], संताप, सर्वांगका जकड़ना, पीड़ा, अंगड़ाई, जम्हाई आदि लक्षण एक साथ उत्पन्न होते हैं। इसीलिये ज्वरको विशेष लाक्षणिक कहते हैं। ज्वर विशेष लक्षणवाला अवश्य है, किन्तु वह रोग नहीं। जिन कारणोंसे ज्वर हो उस कारणका ज्वरके साथ संकेत होना चाहिये।

जैसे—विषम जैवीसे उत्पन्न विषमज्वर, मन्थरी-

---

१ स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्ग ग्रहण तथा। युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते॥ माधव।

जैवोंसे उत्पन्न मन्थरज्वर आदि; न कि ज्वरको रोग मानना चाहिये। अब केवल मात्र ज्वरको रोग मानना भूल है। यदि हम ज्वरको ही रोग मानेंगे तो चिकित्सामें बहुत भूल करते रहेंगे। हम उस दशामें ज्वरको तोड़ने या उतारनेकी ही चिकित्सा करेंगे, रोगको दूर करनेकी नहीं। क्योंकि रोग तो हमारा लक्ष्य ही न होगा, लक्ष्य होगा हमारा लक्षण। ऐसी स्थितिमें हम मन्थरज्वरकी औषध विषमज्वरमें, विषमज्वरकी औषध क्षयज्वरमें दे सकते हैं। क्योंकि, लक्ष्य तो ज्वर है न? ऐसी भूलें प्रायः वैद्योंसे होती हैं और चिकित्सा करनेके बाद फिर उस भूलका ज्ञान होता है, यह हमारा हजारों बारका अनुभव है।

प्राचीन ज्वरों पर कुछ तुलनात्मक विचार

यह मानी हुई बात है कि रोगनिदान—रोगके अपने निश्चित लक्षणोंसे हो सकता है। जिस रोगका अपना कोई निश्चित लक्षण नहीं, उसका निदान असम्भव है। पूर्वकालमें जो रोगको देखने व समझनेके साधन बतलाये गये हैं, उनसे इस समय—शरीरके आन्तरिक रोगोंका—ठीक ठीक निश्चय नहीं होता। क्योंकि इस समयकी स्थितिके अनुसार वह साधन बहुत सरल साधारणसे हैं। चक्षु[1] द्वारा देखने और उदरादि व नाड़ी आदिका स्पर्श करने तथा

१ दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणः।

कष्टके सम्बन्धमें पूछ लेने मात्रसे अनेक रोगोंका पूरा पूरा निदान होना सम्भव नहीं। जो वैद्य वीस-वीस, तीस-तीस वर्षोंसे चिकित्साका काम करते है उनके सम्बन्धमें मेरा कथन लागू न समझना चाहिये। क्योंकि, रोगी देखते देखते उनका अनुभव इतना बढ़ जाता है कि वह उक्त साधनके बिना भी रोग विनिश्चयमें समर्थ हो जाते हैं। किन्तु, उनका अनुभव नये वैद्यको कोई लाभदायी नहीं हो सकता। रोग विनिश्चयके तो साधन ऐसे होने चाहिये कि जिसके द्वारा नव्य वैद्य क्या वैद्य विद्यार्थी भी उनके द्वारा निदानमे समर्थ हो जाय, उसे ही साधन माना जा सकता है। इसमे कोई संशय नहीं कि शरीरके अन्दरकी स्थितिको कई बार बड़े २ विशेषज्ञ भी नहीं जान पाते। कई बार वह भूल कर जाते हैं, धोका खा जाते हैं। किन्तु फिर भी वह समझने व जाननेके नयेसे नये साधनोंको हाथसे जाने नही देते।

यह किसीसे छिपा नहीं कि इस समय रोग ज्ञापनार्थ अनेक यान्त्रिक साधन तथा शरीरस्थ धातु, मल निरीक्षणके इतने अधिक साधन आविष्कृत हो चुके है, जिनकी सहायता ली जाय तो रोग विनिश्चय में बड़ी भारी मदद मिल जाती है। यदि वैद्य इन साधनोंका उपयोग सीख लें तो उन्हें यह उपकरण रोग ज्ञानमें काफी सहायता दे सकते हैं। यदि वह ऐसा करनेमें असमर्थ हों, तो उन्हे इतना तो अवश्य करना चाहिये, कि इस समय जितने भी प्रधान २ रोग मिलते

हैं, उनके रूप व लक्षण जो निश्चित हो चुके हैं, उन्हें स्मरण रखकर रोग समझनेके समय उनसे काम लें, तो उन्हें बहुत कुछ सफलता मिल सकती है।

हमारे निदानमें एक बातकी अत्यन्त त्रुटि दिखाई देती है कि जिन रोगोंके विभेद किये हैं, उन विभेदोंको दर्शानेवाले निश्चित लक्षण नहीं बताये गये, इसीलिये बहुधा वैद्य उनकी विभिन्नताको बतानेमें असमर्थ रहते हैं। दूर न जाइये! हम इसके कुछ उदाहरण ज्वरमेंसे ही देंगे।

ज्वर लक्षण—थकावट, अरति, विवर्णता, मुँहका बेस्वाद होना, नेत्रजलपूर्ण, कभी शीतकी इच्छा, कभी धूपकी इच्छा, कभी द्वेष, जम्हाई आना, शरीर टूटना, शरीरका भारी होना, रोंगटे खड़े होना, अरुचि, आँखोंके आगे अंधेरा आना, प्रसन्नताका नाश, शीत लगना, यह चिह्न ज्वरकी उत्पत्तिके समय होते हैं।

ग्रन्थोंमें ज्वर अनेकों दिये गये हैं, उक्त चिह्न किस ज्वरके हैं? यदि यह कहा जाय कि यह चिह्न साधारणतः सब ज्वरोंके हैं, ऐसा समझना भूल होगी। प्लेग, मन्थरज्वर, प्रसूतिकाज्वर, राजयक्ष्मा आदि अनेक ज्वरोंमें उक्त बताये हुए लक्षणोंमें से आधे लक्षण भी नहीं मिलते। हाँ!

---

१ श्रमोऽरति विर्वर्णत्वं वैरस्यं नयन स्रवः। इच्छा द्वेषौ मुहुश्चापि शीत वातातपादिषु॥ जृम्भाङ्ग मर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः। अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे॥ माधव।

किसीमें सबसे अधिक लक्षण मिलते हैं तो एक विषमज्वरमें अवश्य मिलते हैं। जब ज्वर एक स्वयम् लाक्षणिक है तो उसके साथ होनेवाले इन लक्षणोंका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। यह ठीक है कि ज्वर विशेष लक्षणोंवाला है और उसके आविर्भावके साथ कुछ अन्य ज्वर द्योतक लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु जो लक्षण समस्त भेदके ज्वरोंमें न मिलें उन्हें सर्व ज्वरांगिक नहीं माना जा सकता। हाँ, इन्हें विषम ज्वरके लक्षणोंमेंसे माना जाय, और विषमज्वरके समय उत्पन्न होनेवाले लक्षणोंमें गिना जाय तो युक्तियुक्त होगा।

वातज्वर—अच्छा! अब सर्व प्रथम वातज्वरको लीजिये। शास्त्र कहता है—कम्पसे[1] ज्वर चढ़े, ज्वरका वेग कभी अधिक कभी कम हो जाय। कण्ठ, होठ, मुँह सूखे, नींद जाती रहे, छींक न आवे, शरीर रुक्ष हो जाय, सिरमे दर्द, शरीरमे दर्द, मुँह बेस्वाद, पेटमे दर्द, अफारा, जम्हाई—यह लक्षण वातज्वरमें होते हैं। उक्त लक्षण इतने साधारण लक्षणोंमे से हैं कि आरम्भमें जो भी ज्वर हो उसमे एक दो को छोड़कर प्रायः सभी लक्षण मिला करते हैं। इसलिये अपना वातज्वरका तो कोई विशेष लक्षण न हुआ। यदि यह कहा जाय कि पेटमें दर्द, अफारा, जम्हाई आदि तो

---

१ वेपथुर्विषमोवेगः कण्ठौष्ठ परिशोषणम्। निद्रानाशः क्षुवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च॥ शिरोहृद्गात्र रुग्वक्त्र वैरस्य गाढ़ विट्कता। शूलाध्माने जृम्भणं च भवत्यनिलजे ज्वरे॥ माधव।

वातके ही विशेष लक्षण हैं। ऐसा मानना भूल होगी। अजीर्ण दोषसे जो ज्वर होगा वह प्रायः उदरविकार युक्त होगा, इसीसे पेटदर्द, अफारा, कब्ज आदि साथमें होंगे। कोई भी सन्निकृष्ट विप्रकृष्ट कारणोंसे ज्वर हो—यदि वह उदरविकारके साथ होगा तो उक्त लक्षण अवश्य मिलेंगे। इसलिये इन्हें केवल वातज्वरका द्योतक नहीं कहा जा सकता।

पित्तज्वर—इसके सम्बन्धमें शास्त्र कहता है—पतले[1] वेगयुक्त दस्त, नींदकी कमी, वमन, कण्ठ, होठ, मुँह, नाकका पकना, पसीना आना, प्रलाप, मुँह कड़ु, मूर्छा, दाह, नशा-सा होना, प्यास, मल, मूत्र, नेत्रका पीला होना, सिर चकराना, यह पित्तज्वरके लक्षण हैं। यह समस्त लक्षण भी इस समय किसी एक ज्वरमें निश्चित रूपसे नहीं मिलते। हाँ, विषमज्वरोंमें अवश्य देखे जाते हैं। किन्तु, वह भी सब एक साथ नहीं। जब पेटमें आहार रुककर अधिक सड़ेगा उस समय पतला, पीले वर्णका दस्त आवेगा, या पित्तके अधिक स्रवित होनेपर भी ऐसा होता है। उस स्थितिमें मुँह कड़ु होता है, नाक मुँह आदि पक जाते हैं और ज्वर बढ़ जाय तो प्रलाप, मूर्च्छा, मदादि लक्षण देखे जा सकते हैं।

---

१ वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः। कण्ठौष्ठ मुख नासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥ प्रलापोवक्त्र कटुता मूर्छा दाहोमदस्तृषा। पीत विण्मूत्र नेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च॥ माधव।

यह चिह्न तथा तृषा. अनिद्रा, भ्रम आदि ऐसे लक्षण हैं, जो प्रायः समस्त विप्रकृष्ट ज्वरोंमें पाये जाते हैं।

श्लेष्मज्वर—इसके सम्बन्धमें शास्त्र कहता है—शरीर गीले कपड़ेमें लिपटा प्रतीत हो, ज्वरका वेग मन्द हो, आलस्य, मुँहका स्वाद मीठा, मल. मूत्र, स्वेद, शरीर रुका हुआ भारी, पेट भरा, सर्दी लगे, वमनेच्छा, रोमांच, निद्राधिक्य, प्रतिश्याय, अरुचि, कास, नेत्रका श्वेत रहना और श्लेष्म वृद्धि यह श्लेष्म ज्वरके लक्षण हैं। यह समस्त लक्षण इस समय किसी एक ज्वरमें नहीं देखे जाते। हां, प्रतिश्याय हो और उसके साथ ज्वर हो तो इनमे के बहुतसे लक्षण दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रकारका जो भी मन्दज्वर होगा उससे शरीरको प्रायः बहुत कम हानि पहुँचती है। रक्तके कण प्रायः नष्ट नहीं होते, इसीलिए मूत्रका वर्ण नहीं बद-लता। आमाशय रुका हो और पेटमे सड़ा यंद कम हो, दुग्ध घृतके पदार्थ अधिक सेवन किये गये हों तो मलका वर्ण श्वेत होगा। दूसरे पेट रुका भारी इसलिए होता है कि आहार बहुत मन्द गतिसे आगे बढ़ता है। क्योंकि भोजन पचता तो ठीक तरहसे है नहीं, इसीलिए अरुचि वमनेच्छा बनी रहती है। इन लक्षणोंको यदि प्रतिश्यायजन्य ज्वरके मान लिये जायँ

---

१ स्तैमित्यंस्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता। शुक्ल मूत्र पुरीषत्व स्तम्भस्तृप्ति रथापि च॥ गौरवं शीत मुत्क्लेदो रोमहर्षोऽति निद्रता। प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता॥ माधव।

तो कोई अनुचित नहीं, क्योंकि इसमें प्रतिश्याय, कास, श्लेष्म वृद्धिके साथ उक्त लक्षण दर्शाये गये है। इसलिये श्लेष्मज्वर कोई भिन्न न होकर प्रतिश्यायजनित ज्वर ही इसे मानना युक्तिसंगत है, क्योंकि ग्रन्थोंमें प्रतिश्यायके कहीं भिन्न लक्षण भी नहीं मिलते।

इसी तरह वातपित्तज्वर, पित्तकफज्वर आदि द्वन्द्वज दोषोंके जो लक्षण दिये गये हैं वह ऊपरके दिये एक २ दोषोंके लक्षणोंका जहां तहां मिश्रण किया गया है। उनमें लक्षणोंकी विशेषता कोई नहीं दिखाई देती।

ज्वर मात्रमें निम्नलिखित लक्षण प्रायः पाये जाते हैं, आरम्भमें न्यूनाधिक शीत लगता है, त्वचा रुक्ष हो जाती है और ज्वरके कारण उसमें कुछ लालिमा आ जाती है, मन्द ज्वर हो तो लालिमा नहीं भी आती, हाथ लगानेसे वह गरम प्रतीत होती है, प्रायः पसीना नहीं आता, शरीर भारी, थका हुआ सा होता है और टूटता है। मन्दज्वरमें अंगड़ाई कम आती हैं। ज्वर तीव्र हो तो चेहरा तमतमा उठता है, नेत्र लाल हो जाते है। मन्द ज्वरमें यह वात नहीं होती। मुँह विरस या भिन्न-भिन्न रसोंवाला होता है। मुँहका स्वाद आमाशयकी स्थितिके अनुसार बदलता है। पाचक ग्रन्थिरस न्यून हो जाते हैं, इसलिये भोजनसे अरुचि होती है। कई बार उदरस्थ पदार्थ अपच्य रहनेके कारण आगे विलम्बसे बढ़ते हैं इसीसे पेट भारी, अरुचि, ग्लानि, वमनेच्छा आदि लक्षण

देखे जाते है । प्राय: मलावरोध होता है, यदि पेटमें मल सड़ रहा हो तो दस्त भी लग जाते हैं। जिह्वा, मसूढ़े व दाँतों पर किसी न किसी वर्णकी मलिनता चढ़ जाती है, यह मलिनता भी उदरस्थ स्थितिकी द्योतक होती है। प्राय: ज्वर तीव्र हो तो तृपा लगती है, या पेटमें सड़ायंद हो रही हो तो बहुत प्यास लगती है। ज्वर तीव्र हो तो रक्तकणोंका जल्दी नाश होता है और रक्तरञ्जक पदार्थ भी रक्तमें घटने लगते हैं इसीसे मूत्र लाल, पीला अधिक वर्णयुक्त आता है। यदि ज्वर मन्द हो और रक्तकी अधिक हानि न हो तो मूत्रका वर्ण प्राय: कम बदलता है। ज्वरमे रक्तकी क्षारीयता भी घट जाती है। यदि ज्वर वेगवान् हो और उसका प्रभाव मस्तिष्क पर अधिक हो रहा हो तो प्रलाप, मूर्छा, मद, व्याकुलता, अरति, अनिद्रा, आदि अनेक उपद्रव स्थान प्रभावानुसार देखे जाते हैं। यदि फुफ्फुस और वायु-प्रणाली प्रभावित हों तो श्लेष्मवृद्धि कास, श्वास, हिक्का आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इसी तरह शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंके प्रभावित होनेपर लक्षणोंमें भिन्नता उत्पन्न होती चली जाती है। यह भिन्नताएँ केवल आंगिक प्रभावोंके कारण ही उत्पन्न हो जाती हैं, न कि दोषोंके संमिश्रणसे।

तो क्या ज्वरोंमें निश्चित लक्षण होते ही नहीं ? यह बात नहीं। भिन्न-भिन्न ज्वरोंमें जो शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंको अधिक प्रभावित करते हैं उनके लक्षणोंमें भिन्नता

पाई जाती है और उनके लक्षण भी निश्चित होते हैं, जिनका वर्णन हम आगे करेंगे।

ज्वर और सन्निपात ज्वर

आयुर्वेदमें समस्त रोग दोष प्रकोपके कारण माने गये हैं। ज्वरोंको भी दोष प्रकोपके कारण माना गया है। एक-एक दो-दो दोषोंके जो ज्वर बतलाये गये हैं वह ज्वर अपने लक्षणोंसे युक्त बलवान् नहीं होते। किन्तु शास्त्र कहता है कि जब तीनों दोष मिलकर कुपित्त हों तो उनसे उद्भूत ज्वर बड़ा बलवान् शरीर और इन्द्रियका नाशकारी होता है। तीन दोषोंसे मिले जितने भी ज्वर होते हैं उनको शास्त्रकार सन्निपात संज्ञा देता है। सन्निपात ज्वर और ज्वरमें क्या अन्तर है? ज्ञात होता है कि इसकी विभिन्नताको दर्शानेके लिये ज्वर और सन्निपात ज्वरोंके भिन्न-भिन्न लक्षण एकत्र करके रख दिये गये हैं। यथा—

सन्निपात ज्वर—क्षणमें दाह, क्षणमें शीत लगे, अस्थि,

---

१ क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धि शिरोरुजा। सास्रावे कलुषेरक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने॥ सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः। तन्द्रामोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः॥ परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वास्रस्ताङ्गता परम्। ष्ठीवनं रक्त पित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥ शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि-व्यथा। स्वेदमूत्र पुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः॥ कृशत्वं नाति

सन्धि और सिरमें दर्द हो, नेत्र जलपूर्ण, तथा नेत्राण्ड श्यामतायुक्त लाल स्थिर व वक्र, कानोंमें शब्द, पीड़ा, गला शुष्क, उसमें काँटेसे उठे हों, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वापर श्यामवर्णकी मैल तथा वह शुष्क कांटेयुक्त शिथिल हो, थूकमें रक्त पित्तका मिश्रण-युक्तश्लेष्मा, सिर मारना, तृपा, अनिद्रा, छाती में दर्द, प्रस्वेद मूत्र, मलका देरसे आना, कम आना, निर्वलता, गलेमें श्लेष्म वोलना, शरीरपर चकत्ते, मण्डल या उदर्द, मन्दवाणी, नाक, मुँह, जिह्वाका पकना, पेट भारी, कठोर हो तथा जिसमें दोषोंका पाक जल्दी न होता दीखे—ऐसे लक्षण जिसमें पाये जायँ उसे सन्निपात ज्वर कहा है।

उपरोक्त लक्षण साधारण ज्वरके दिये लक्षणोंसे अनेक लक्षणों द्वारा अपनी विशेषता दर्शाते हैं। वास्तवमें ज्वर और सन्निपात ज्वरके लक्षण प्राकृत व वैकृत ज्वरकी या साधारण व विशेष ज्वरकी सीमा बनाते हैं। वैकृत ज्वर या औपसर्गी ज्वर प्रायः वेगवान्, वलवान्, मारक लक्षणोंसे युक्त होते हैं। सन्निपात शब्द भी इस वातकी सार्थकता सिद्ध करता है। सन्निपात = समीप है जिसके मृत्यु, यह अर्थ निकलता है। मृत्युकी सम्भावना प्रायः सञ्चारी या

गात्राणां प्रतत कण्ठ कूजनम्। कोठानां श्याव रक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्॥ मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च। चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः। —माधवः।

वैकृत ज्वरोंमें ही अधिक रहती है। इसलिये सान्निपातिक ज्वरोंका संकेत प्राय: विशेष ज्वरकी ओर ही नहीं, प्रत्युत शरीरपर चकत्ते, या उदर्द पिटिका आदिका निर्देश उसका निश्चयात्मक चिह्न बताया है। शरीरपर दाने या मण्डलाकार उदर्द औपसर्गिक ज्वरोंमें ही देखे जाते हैं तथा तीव्र ज्वर होकर उपद्रवोंका समूह भी इन्हीं ज्वरोंमें पाया जाता है। इसलिये इन्हें इस समयके संचारी या औपसर्गिक ज्वर माना जा सकता है।

सान्निपातिक ज्वर पर मतभेद

सन्निपात ज्वरके विषयको लेकर जब हम आयुर्वेद ग्रन्थोंका अनुशीलन करते हैं तो वहाँ हमें काफी मतभेद दिखाई देता है। सुश्रुत और वाग्भटका मत है कि तीन दोषोंसे उत्पन्न सन्निपात नामका एक ही ज्वर होता है। उनके मतसे दोषोंमें उल्वणता नहीं आती अर्थात् न्यूनाधिक मात्रामें दोषोंका कोई संमिश्रण सिद्ध नहीं होता। इसीलिये सन्नि-पात नामका वह एक ही ज्वर सिद्ध करते हैं।

दूसरी ओर आत्रेयजी त्रिदोषजनित ज्वरोंमें—दोषानुसार—लक्षण समूहका अंतर देखते हैं। इसीलिए इन्होंने त्रिदोष ज्वरोंमें एक-एक, दो-दो दोषोंकी न्यूना-धिक मात्राके आधार पर सन्निपात ज्वरोंकी संख्या ५२ निर्धारित की। चरक संहिताको देखनेसे संख्याका

पता तो चलता है, परन्तु उन ५२ सन्निपातोंके कौन-कौनसे लक्षण होने चाहिये इसका उल्लेख नहीं मिलता। उल्वण भेदसे पाँच सात सन्निपातोंके लक्षण अवश्य उद्धृत किये गये हैं। वह उक्त भेदोंकी संतुष्टिके लिये काफी नहीं। यथा—आत्रेयजी कहते हैं—जिस ज्वरमें वातपित्तकी अधिकता हो, कफ मन्द हो उस ज्वरमें चक्कर[1], तृषा, दाह, शरीरका स्तब्ध होना, शिरःशूल यह चिह्न पाये जाते हैं। किन्तु, आत्रेयजीके शिष्य भालुकिजी कहते हैं—जिस ज्वरमें वातपित्तकी[2] अधिकता हो उसमें ज्वर, अंगमर्द, तृषा, तालु शोष, नेत्र मिंचे रहना, यह लक्षण पाये जाते हैं। चरकजीके दिये हुये लक्षणोंसे भालुकिके लक्षण सर्वथा भिन्न हैं, सिवाय भ्रमके और लक्षण चरकमें नहीं मिलते। यह लक्षण अधिक अन्तर दर्शाते हैं, जिन्हें देखकर यही मानना पड़ता है कि उन्होंने अनुमानतः समझा होगा। जब इस तरह एक ही सन्निपातमें इतने लक्षणोंका अन्तर हो तो रोगका निश्चय कैसे हो सकता है?

अच्छा और देखिये—चरकजो जिसमें हीन वात, मध्य

---

१ भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वात पित्तो-ल्वणौ विद्याल्लिङ्गं मन्द कफे ज्वरे॥ चरक।

२ वात पित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट् तालुशोष प्रमीलकाः॥ भालुकी।

पित्त तथा अधिक श्लेष्म हो ऐसे सन्निपातमें–प्रतिश्याय[1], वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, अग्निमान्द्य, यह लक्षण बताते हैं। किन्तु भालुकिजी कहते हैं कि हीन वात मध्य पित्त तथा वृद्ध श्लेष्ममें–कटि[2] पीड़ा, छातीमें दाह, दर्द भ्रम, अत्यन्त थकावट, वमनेच्छा, सिरदर्द, ग्रीवा, छाती, वाणीमें दर्द, नेत्र बन्द रहना, श्वास, हिचकी, स्मृतिनाश, यह लक्षण होते हैं। इन दोनोंके परस्पर लक्षण नहीं मिलते। इनमेंसे किसको सही माना जाय ?

और देखिये—चरकजी कहते हैं—आलस्य[3], अरुचि, वमनेच्छा, दाह, वमन, अरति, भ्रम, तन्द्रा, कास यह लक्षण जिसमें मिले उसे कफोल्वण सन्निपात जानो। दूसरी ओर भालुकिजी कहते हैं—जड़ता[4], स्पष्ट उच्चारण न होना अधिक निद्रा नेत्राण्डोंका स्थिर हो जाना, मुखका स्वाद

---

१ प्रतिश्यायच्छर्दिरालस्यं तन्द्रा रुच्यग्नि मार्दवम्। हीन वाते पित्त मध्ये लिंगं श्लेष्माधिके मतम्॥ चरक। २ हीनमध्याधिकैर्यस्य वात पित्त कफैः क्रमात्। अल्पशूलं कटि तोदोमध्य दाह रुजो भ्रमः॥ अशंक्लमः शिरोरुक् च मन्या हृदय वाग्रुजः। प्रलीमकः श्वास हिक्काः जायन्तेऽति विसज्ञता॥ भालुकी। ३ आलस्यारुचि हृल्लास दाह वम्यरति भ्रमैः। कफोल्वणं सन्निपातं तन्द्रा कासेन चादिशेत्॥ चरक। ४ जड़ता गद्गदावाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि। प्रस्तब्धे नयने चैव मुख माधर्यमेव च॥ कफोल्वणस्य लिंगानि सन्निपातस्य लक्षयेत्॥ भालुकी।

मीठा होना यह लक्षण कफोल्वण सन्निपातके हैं। इन दोनोंके लक्षण भी परस्पर नहीं मिलते। ऐसी स्थितिमें इन उल्वण सन्निपातोंके लक्षण देखकर कोई क्या अर्थ निकालेगा ? यही कहेगा कि यह उल्वण भेद किसी स्थिर सिद्धान्त को लेकर नहीं बनाये गये हैं। इच्छानुसार जिसने जो समझा वर्णन कर दिया है। यही कारण हैं, जिनकी विद्यमानतामें किसी सन्निपातका निश्चय होना कठिन ही नहीं असम्भव है। यदि किसी रोगीको देखते समय वैद्योंमे मत भेद बना रहे तो आश्चर्यकी बात क्या है। क्योंकि एकने चरकका मत देखा है, दूसरेने भालुकीका। फिर भला मेल कैसे हो ? किन्तु, इस समय ऐसा विभेद रहना हमारी अवनतिका कारण है।

हम तो उक्त ग्रन्थोंके अनुशीलनसे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि चरक, सुश्रुतके समय सन्निपात ज्वरोंका ज्ञान हो चुका था। किन्तु उस समय जो-जो सन्निपात ज्वर पाये जाते थे उनके लक्षण निश्चित हो नही पाये थे। चरकजी त्रिदोष-सिद्धान्तके अधिक समर्थक थे। एक-एक, दो-दो दोषोंके मेलसे जब ज्वरोंके लक्षणोंकी कल्पना की गई तो इसी आधार पर तीन दोषोंके मेलसे विशेष ज्वरोंकी कल्पना सामने आई। जभी तो उन्होंने हीन, वृद्धिका सम्बन्ध दोषोंके साथ मिलाकर ५२ भेदोंकी एक सारणी प्रस्तुत कर डाली। आज उनके समर्थक उस

हीन वृद्धिमें तर, तम प्रत्यय लगाकर १३५ भेद बना बैठे हैं।

आत्रेयजी के पश्चात् उनके शिष्य सम्प्रदायमें इस पर विचार हुआ था। उनमेंसे भालुकिके इस पर काफी विचार मिलते हैं। उन्होंने उल्वण भेदसे जिन सन्निपातोंको जाना था उनके उन्होंने नामकरण किये। विधुफल्गू, मकरी, विस्फुरक, शीघ्रकारी और कम्फण पाँच सन्निपातोंका उल्वण भेदके साथ उनका वर्णन मिलता है। ज्ञात होता है कि वह अपने समयमें इतने ही विशिष्ट लक्षण सम्पन्न सन्निपात ज्वरोंको जान पाये थे। इनके पश्चात् कृष्णवल्लभी आदि वैद्योंने कुम्भीपाक, और्णनाव, प्रलापी, अन्तर्दाह, दण्डपात, अन्तक, एणदाह, हारिद्रक, अजघोष, भूतहास, यन्त्रापीड़, संन्यास और सन्तोषी नामसे १३ सन्निपात ज्वरोंका उल्लेख किया है। ज्ञात होता है कि इन वैद्योंके समयमें सन्निपातोंके भिन्न-भिन्न लक्षण देखकर उन लक्षणोंके अनुरूप नामकरण-की चेष्टा की गई थी। इनके समयोंमें सन्निपात ज्वरोंका प्रसार कुछ अधिक हुआ था। इनके पश्चात् ज्वर पराजय आदि ग्रन्थोंके कर्त्ताओंका समय आता है। इस समयके वैद्योंने उक्त सन्निपात ज्वरोंसे भिन्न—कर्णक, कर्कोटक, सम्मोहन, विस्फारक, आशुकारी, कम्पन, बभ्र, याम्य, क्रकच, पालक, कूटपाल, संग्राम, दारिक, व्यालाकृति, हारिद्रक, विद्धाख्य, शर्कराख्य, भल्लू आ[illegible] [illegible]न्निपात

ज्वरोंका उल्लेख पाया जाता है। इनके समयमें सन्निपात ज्वरोंके सम्बन्धमें अधिक जानकारी वैद्योंने प्राप्त की थी और कई सन्निपातोंके ऐसे लक्षण निश्चित किये थे जो आज तकके कई सान्निपातिक ज्वरोंमें पाये जाते हैं। इन वैद्योंके बाद सन्निपात कलिका आदि ग्रन्थोंके लेखकोंका समय आता है। इन्होंने अपने समयमें देखे जानेवाले सन्निपात ज्वरोंके सम्बन्धमें काफी विचार किया था। किन्तु ज्ञात होता है कि इन्होंने पूर्वके निश्चित किये लक्षण व नामवाले सन्निपात ज्वरोंके वर्णनको देखा ही नहीं या उसकी उपेक्षा कर अपने देखे व समझे हुए लक्षणयुक्त सन्निपातोंका भिन्न नामकरण किया। इन्होंने सन्धिक, अन्तक, रुग्दाह, चित्तविभ्रम, शीतांग, तन्द्रिक, कण्ठकुब्ज, कर्णक, भुग्ननेत्र, रक्तष्ठीवी, प्रलापक, जिह्वक और अभिन्यास नामसे १३ सन्निपात ज्वरोंका उल्लेख किया है। इन्होंने भी प्रायः लक्षणोंके आधार पर ही इन सन्निपातोंके नामकरण किये हैं। इनके निर्णीत लक्षणयुक्त उस समयके वह सन्निपात ज्वर मिलते थे या नहीं इस पर हम यहाँ कोई विचार नहीं करेंगे। किन्तु, ज्ञात होता है कि जिन वैद्योंने इन सन्निपातों-का उल्लेख किया था वह वैद्य समुदायमें प्रभावशाली थे, या उनके समयमें उनके निर्णीत सन्निपात ज्वरोंका प्रचार हो चला था; इसीलिये यह १३ सन्निपात ज्वर वैद्य समुदायमें ख्याति प्राप्त कर गये। बाकीके सन्निपात उन लेखकोंके ग्रन्थोंमें

ही रहे। अपनी मतिके अनुसार हमने इनकी रचनाकालका कुछ दिग्दर्शन कराया है, अब हम इनके नाम, रूप, लक्षणों पर भी कुछ प्रकाश डालेंगे।

प्राचीन सन्निपात ज्वरोंके नाम और लक्षण

भालुकिने उल्वण भेदसे जिन पाँच सन्निपात ज्वरोंका उल्लेख किया है उनमें एक दो को छोड़कर कोई भी उसके लक्षण सम्बन्धी विशेष अर्थके द्योतक नहीं। किन्तु इन्होंने जितने भी सन्निपात ज्वरोंके लक्षणोंका संकलन दिया है, अधिक विचारपूर्ण तथा विस्तारके साथ है। तथा उनके दिये लक्षणयुक्त सन्निपात ज्वर इस समयके कुछ ज्वरोंसे मेल खाते हैं। उनके लक्षणोंमें विशेषता है और वह काफी विभेद द्योतक हैं। इनके बताये विधुफल्गुसन्निपातके लक्षण इस समय फुफ्फुस प्रदाही ज्वरके लक्षणोंसे काफी मिलते हैं। यथा—

विधुफल्गुसन्निपात—अन्तर्दाह[1] हो, बाहर सर्दी लगे, (एक ग्रन्थके पाठमें लिखा है कि तन्द्रा अधिक हो, दूसरेमें कहा है कि तृषा अधिक हो) दाहिनी पसलीके नीचे

---

१ अन्तर्दाहः बहिः शीतं तस्य तृष्णा विवर्द्धते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वं मुरः शीर्षंगलग्रहाः॥ निष्ठीवेत्कफ पित्तं च कृच्छ्रात्कण्डूश्च जायते। विट्भेद श्वास हिक्काश्च वर्धंते स प्रमीलकाः॥ विधुफल्गु च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ॥

चोभयुक्त शूल उठे, छाती, सिर और गला पकड़ा जाय, थूकमें कफ पित्तवर्णक आवे, निर्बलता हो शरीरपर खारश उठें, (दूसरे ग्रन्थके पाठमें है कि "गलेमें दर्द होय") मल थोड़ा-थोड़ा उतरे, श्वास, कास, हिचकी बढ़ती चली जाय, आँख बन्द और स्थिर नेत्र किये रोगी पड़ा रहे। ऐसे लक्षण-युक्त सन्निपात ज्वरको विधुफल्गु कहते हैं। यह आजकलके फुफ्फुस प्रदाही ज्वरके लक्षणोंसे पूर्णतया मिलता है।

मकरी सन्निपात—सर्दी[१] लगकर ज्वर चढ़े, निद्रा आवे, भूख प्यास लगे, पसलीके हिस्से अवरुद्ध हो जायँ, सिर भारी, आलस्य मन्यास्तम्भ, नेत्र बन्द रहें पेटके भीतर जलन हो, कटिबस्तिमें पीड़ा होती हो, यह लक्षण मकरीके कहे हैं। इस समय ऐसा ज्वर एक मात्र काल ज्वर मिलता है जिसमें नींद आती है और भूख लगती है। किन्तु मन्यास्तम्भ, पार्श्वग्रह, उदरदाहादि अन्य लक्षण इसमें नहीं मिलते। दूसरे काल ज्वर इतना शीघ्र मारक नहीं। कई महीनोंमें जाकर कहीं रोगी इसके प्रकोपसे मरता है।

विस्फुरक सन्निपात—जिसमें प्यास[२], ज्वर, ग्लानि,

---

१ श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य शीत ज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहः॥ शिरोगौरवमालस्यं मन्यास्तम्भ प्रलीमकाः। उदर दह्यते चास्य कटिवस्तिश्च दूयते। सन्निपातः सविज्ञेयो मकरीति सुदारुणः॥ २ तस्य तृष्णा ज्वरोग्लानि पार्श्वे रुग्दृष्टि संक्षयः। पिण्डिकोद्वेष्टन दाह ऊरुसादो बलक्षयः॥

पार्श्वशूल, दृष्टिनाश, पिण्डलियोंमें ऐंठन पड़ना, दाह, छातीका रुकना, बलनाश, लालवर्णका मूत्र, मल आना, शूल उठना, निद्रा न आना, गुदा स्थानमें भेदनीय दर्द, वस्तिमें खिंचाव या अकड़ाव, दिन रात हिचकी बढ़ना, शरीरमें सूई सी चुभना, प्रलाप करना, वेहोशी, नेत्रोंका खुला रहना, रोना, यह लक्षण विस्फुरकके कहे हैं। इस सन्निपातमें लक्षणोंकी विशेषता काफी है किन्तु, उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न सन्निपात ज्वर इस समय कोई नहीं देखा जाता।

शीघ्रकारी सन्निपात—जिसमें दाह हो, ज्वर तीव्र हो, भीतर बाहर ज्वर एकसा बढ़े, शीतवीर्य पदार्थ सेवन करे तो श्लेष्म वात कुपित हो, हिचकी, श्वास बढ़ते चले जायँ, नेत्र

रक्तं चास्यविरमूत्रं शूलं निद्रा विपर्य्ययः। निर्भिद्यते गुदं चास्य वस्तिश्च परिकृष्यते (गृह्यते) ॥ आयम्यते हिक्कतेच भिद्यते विलपत्यपि। मूर्च्छते स्फार्यते रौति नाम्नः विस्फुरकः स्मृतः ॥
१ पित्तोल्वणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य दाहो ज्वरोघोरो वहिरन्तश्च वर्द्धते। शीतं च सेव्यमानस्य कुप्यतः कफ मारुतौ। ततश्चैनं प्रधावन्ते हिक्का श्वास प्रलीमकाः। विसूचिकाः पर्व भेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥ नाभि पार्श्वे रुजातस्य स्विन्नस्याशु विवर्द्धते। स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः संप्रवर्त्तते ॥ शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा दाहश्च वर्द्धते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥

बन्द रहें, विसूचिका हो, सन्धियोंका टूटना, प्रलाप करे, शरीर भारी हो, थकावट, नाभि, पार्श्वमें दर्द हो, पसीना आया हो, उक्त लक्षण बढ़ते जायँ, स्रोतोंसे रक्तस्राव होय, शूलसे रोगी निपीड़ा जाय, तृषा, दाह बढ़ते जायँ—ऐसे लक्षण युक्त सन्निपातको शीघ्रकारी कहा है। इसके लक्षण आधुनिक पुनरावर्त्ती ज्वरसे मिलते हैं।

कर्कण सन्निपात ज्वर—इसमें शीत[1] देकर ज्वर चढ़े, स्वप्न आवे, शरीर भारी हो, आलस्य तन्द्रा हो, वमन, मूर्छा, तृषा, दाह, पेट भरा रहे, अरुचि, छातीमें अकड़ाव, थूकना, मुँहका मीठा होना, कान, वाणी और नेत्र रुक जायँ, अपना काम न करें—ऐसे लक्षण युक्तको कर्कण सन्निपात कहा है। इसमें लक्षणोंकी विशेषता कोई नहीं दी है। इसके लक्षण कई सन्निपातोंमें दीख सकते हैं, पर निश्चित नहीं कहा जा सकता कि इसे इस समयके किस ज्वरसे तुलनाकी जाय।

अब हम अन्य वैद्योंके दिये सन्निपातोंका कुछ वर्णन देंगे।

कुम्भीपाक सन्निपात—सम्पूर्ण शरीरपर[2] ग्रन्थि

---

१ तस्य शीत ज्वर स्वप्न गौरवालस्य तन्द्रयः। छर्दि मूर्छा तृषा दाह तृप्त्यरोचक हृद्ग्रहाः॥ ष्ठीवन मुखमाधुर्य श्रोत्र वाग् दृष्टि निग्रहः। भेदोगतः सन्निपातः कर्कणः स उदाहृतः॥

२ सम्पूर्यते शरीरं ग्रन्थिभिः अभितस्तथोदरं मरुतः। श्वासातुरश्च स तृट् दुष्टास्र पतन च मुख नासाया इति लक्षणयुतं तं कुम्भिपाकेन पीडित विद्यात्।

निकले—ग्रन्थिसे मेरे विचारमें उदर्द पिटिकासे ग्रन्थकारका अभिप्राय दिखाई देता है। पेट बढ़ जाय, उसमें हवा भरे, श्वास, तृषा हो, नाक मुँहसे विवर्ण रक्त जाय—ऐसे लक्षण जिसमें पाये जायँ उसे कुम्भीपाक कहा है। इसके लक्षण विस्तारसे न होनेके कारण यह कौनसा ज्वर है कहा नहीं जा सकता।

प्रोर्णुनाव सन्निपात—अपने अंगोंको[1] इधर उधर मारे, बड़े लम्बे-लम्बे सांस ले या श्वास हों, विचित्र प्रकारके कष्ट दिखाई दें उसे प्रोर्णुनाव कहा है। इस तरहके लक्षण-युक्त सन्निपातका इस समय कोई पता नहीं चलता।

प्रलापी सन्निपात—प्रस्वेद हो, चक्कर आवे, अंगड़ाई ले, कम्प हो, वमनेच्छा, थकावट हो, गलेमें दर्द, शरीर भारी हो, तोदयुक्त दर्द हो, साथमें प्रलाप करता हो, ऐसे लक्षण-युक्तको प्रलापी कहा है। यह बहुतसे साधारण और आरम्भिक ज्वरके लक्षणोंमें से हैं, जो किसी ज्वरकी विशेषताके द्योतक नहीं। इन लक्षणोंसे युक्तको सन्निपात संज्ञा भी नहीं मिलनी चाहिए।

एणदाह सन्निपात—उठ-उठ भागे, उठनेके लिये बारम्बार हाथ-पैर मारे; उसे अपने शरीर पर साँप, कीड़े,

---

१ उत्क्षिप्य यः स्वमंगं क्षिपत्यधस्तात् नितान्त मूर्च्छ्वसिति तं प्रोर्णुनाव जुष्टं विचित्र कष्टं विजानीयात्।

जानवर चलनेका भ्रम हो; कांपे, दाह हो, ऐसे लक्षणयुक्त ज्वरको एणदाह सन्निपात कहा है। उक्त लक्षण कभी-कभी फुफ्फुसप्रदाहीज्वर, मन्थरज्वरके रोगियोंमें उस समय पाये जाते हैं, जब रोगी मूर्छित होकर प्रलाप करता-उठ-उठ भागता हो। किन्तु, ऐसा स्वतन्त्र सन्निपात कोई नहीं देखा जाता।

भूतहास सन्निपात—आदमी देखता-सुनता भी देखने-सुननेमें असमर्थ हो अर्थात् बोधरहित हो जाय, हँसे रोवे, प्रलाप करे, ऐसे लक्षणयुक्तको भूतहास सन्निपात कहा है। यह लक्षण भी उन संचारी ज्वरोंमें पाये जाते हैं, जिसमें रोगी संज्ञा-हीन हो जाता है। यह लक्षण भी कोई ऐसी विशेषता नहीं दर्शाते जिससे इसे अन्यज्वरसे भिन्न किया जाय।

अजघोष सन्निपात—शरीरमें बकरेकी-सी गन्ध आवे, कन्धों पर दर्द हो, गलेका रास्ता बन्द हो जाय और आवाज भर्राई हुई निकले, ऐसे लक्षण अजघोषके कहे हैं। इसके लक्षण कण्ठारोहण या डिप्थीरियासे मिलते हैं।

हारिद्रक सन्निपात—जिसमें सारा शरीर पीला हो जाय, मल अधिकतया पीला उतरे, भीतर दाह हो, बाहर शरीर शीतल रहे, ऐसे लक्षणयुक्तको हारिद्रक कहा है। इसके लक्षण पीतज्वरसे मिलते हैं।

सन्तोषी सन्निपात—शरीर काला पड़ जाय, नेत्रोंमें

श्यामता आ जाय, मल अधिक आवे, शरीर बहुत निर्बल हो जाय और शरीर पर मण्डलयुक्त पिटिका दिखाई दें, ज्वर हो, ऐसे लक्षणयुक्तको सन्तोपी सन्निपात कहा है। इसके लक्षण कालज्वरसे मिलते हैं।

संन्यास सन्निपात—अतिसार हो, वमन हो, गला घुरघुर करे, अंग शिथिल हो जाय, रोगी सीधा चुपचाप पड़ा रहे, हिल न सके, पड़ा २ प्रलाप करता रहे, भौंहें, नासिका, नेत्राण्ड टेढ़े हो जायँ, ऐसे लक्षणयुक्तको संन्यास सन्निपात कहा है। यह चिह्न भी शीर्षमण्डलावरण-प्रदाहमें जब कि रोगी मूर्छावस्थामें होता है तथा स्थिति खराब होती है, दिखाई देते हैं। इस तरहका स्वतन्त्र ज्वर इस समय कोई नहीं दीखता।

यन्त्रापीड़ सन्निपात—जिसमें ज्वर तो मन्द हो किन्तु, शरीरकी हड्डी-हड्डीको जैसे किसीने निपीड़न कर छोड़ा हो ऐसा प्रतीत हो, रक्तपित्तकी वमन हो, ऐसे लक्षणयुक्तको यन्त्रापीड़ सन्निपात कहा है। इसके उक्त लक्षण अस्थिभंजी-ज्वरमें पाये जाते हैं। पाठकों ने देखा कि इनके दिये हुए सन्निपातोंमें लक्षणोंकी अति अल्पता होती है। इन्होंने दो-दो चार-चार मुख्य लक्षण देकर केवलमात्र उन ज्वरोंका संकेत कर दिया है। इस तरहके वर्णनसे सन्निपातोंका निश्चय करना इस समय बहुत कठिन है।

अच्छा! अब हम और आगेके वैद्यों द्वारा दिये सन्निपातों पर कुछ विचार करेंगे।

कर्णक[1] सन्निपात—साधारण दर्द, कमरमें तोद, छातीमें दाह, शरीर टूटना, श्रम, थकावट, सिर-दर्द, मन्या, हृदय, वाणीमें अवरोध, या स्तम्भ, नेत्रबन्द, श्वास, हिचकी, बेहोशी, यह लक्षण जिसमें दिखाई दें उसे कर्णक कहा है। उक्त लक्षण कई ज्वरोंमें देखे जा सकते हैं। इसमें कोई ऐसे विशेष लक्षण नहीं हैं जिससे किसी विशेष ज्वरका संकेत मिलता हो। नाम तो कर्णक है किन्तु, नामकी सार्थकताका कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, शीर्षमण्डलप्रदाह इसके लक्षण अधिक मिलते हैं।

कर्कोटक सन्निपात—चेहरा[2] तमतमाया हो, बलगम छातीमें शुष्क होकर कठिनतासे निकले, बाणवत् चोभकी

---

१ अल्पशूल कटो तोदो मध्यदाहरुजो भ्रमः। भृश क्लमः शिरोरुक्च मन्या हृदये वागुरुः। प्रलीमकः श्वास हिक्का जायन्तेऽति विसंज्ञता।

२ रक्तमालक्तके नैव दृश्यते मुखमण्डलम्। यत्नेन कर्षितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते। इषुणेवाहत पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि। प्रलीम श्वास हिक्काश्च वर्द्धन्ते च दिने दिने। जिह्वा दग्धा खर स्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः। विसर्ग नाभि जानाति कूजते च कपोतवत्। दतिवच्छ्लेष्मणा पूर्णः शुष्क वक्त्रौष्ठ तालुकः। तन्द्रानिद्राति योगान्ते हतपाणिं हतद्युतिः। नैवाति-

पीड़ा पार्श्वमें हो, ऐसा प्रतीत हो मानों कोई दिलको खोद रहा है, नेत्रबन्द हों, धीरे-धीरे श्वास, कास, हिचकी दिन-दिन वृद्धि पर हों, जिह्वा मैली काली रूक्ष खरदरी हो, गलेमें चीरे जैसे आये हों और रूक्ष हो, विष्टब्धता हो, श्लेष्म गलेमें भरा घर्र-घर्र बोले, मुँह, होठ, तालु शुष्क हों, तन्द्रा बनी रहे, कभी निद्रा कभी तन्द्रा आवे, हाथ पैर शिथिल हो जाय, कान्ति जाती रहे, ग्लानि अधिक न हो, दिन-रात थूकमें श्लेष्मा-रक्त मिश्रित जाती रहे. ऐसे लक्षणयुक्त सन्निपातको कर्कोटक कहा है। यह भी विधुफल्गुवत् आधुनिक फुफ्फुस प्रदाहोज्वरसे मिलता है। विधुफल्गुसे भी इसके लक्षण अधिक स्पष्ट हैं।

सम्मोहन सन्निपात—इसमें एकाएक प्रलाप, मोह, मूर्छा, अरति, भ्रम, उत्पन्न होकर अर्धांग हो जाय अर्थात् आधा अंग मारा जाय ऐसे लक्षणयुक्तको सम्मोहन सन्निपात कहा है। इस समय इन लक्षणोंसे युक्त शीर्षमण्डला वरण प्रदाह ज्वर दीखता है और इसी ज्वरमें कुछ रोगियोंको पक्षाघात हो जाता है। किन्तु, उसमें रोगीको एकाएक बेहोशी हो जाती है और उसके पश्चात् उक्त लक्षण भी देखे जाते हैं।

लभते ग्लानिं विपरीतं नियच्छति ॥ आयम्यतेऽत्र बहुशो रक्तं च ष्ठीवते बहु। एष कर्कोटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः।

१ प्रलापायास समोह कम्प मूर्छारति भ्रमैः। एक पक्षाभिघातस्तु एतदत्र विशेषणम् ॥ एष सम्मोहनोनाम।

परन्तु, शीर्षमण्डलावरणप्रदाहका मुख्य लक्षण ग्रीवाका अकड़ना, वक्र हो जाना, इन लक्षणोंमें नहीं दिखाई देते।

विस्फारक सन्निपात— कास, श्वास, भ्रम, मूर्छा, प्रलाप, मोह, कम्प, पार्श्वशूल, जम्हाई, मुँहविरसता, यह लक्षण जिसमें हों उसे विस्फारक कहा है। इसके भी लक्षण फुफ्फुसप्रदाहीज्वरसे मिलते हैं।

आशुकारी सन्निपात—अतिसार, भ्रम, मूर्छा, मुखपाक, शरीर पर रक्त वर्णके दाने निकलें, अति दाह हो, ऐसे लक्षणयुक्त सन्निपातको आशुकारी कहा है। इस समय इस तरहके रक्त वर्णके दाने एक तो टाइफस ज्वरमें निकलते हैं दूसरे शीर्षमण्डलावरणप्रदाह ज्वरमें। यह अधिकतर टाइफस ज्वरसे अन्य लक्षणोंमें मिलता है।

कम्पन सन्निपात—वाणीमें जड़ता, बोलनेमें लड़खड़ाकर बोलना, नींद बहुत, नेत्रका स्थिर होना, मुँहका

---

१ कास श्वासौ भ्रमो मूर्छा प्रलापो मोह वेपथू। पार्श्वस्य वेदना जृम्भा कषायत्व मुखस्य च। वातोल्बणस्य लिंगानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। एष विस्फारको नाम सन्निपातः सुदारुणः॥

२ अतिसारो भ्रमो मूर्छा मुखपाकस्तथैव च। गात्रे च विन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते॥ पित्तोल्बण लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। भिषग्भिः सन्निपातोयं आशुकारी प्रकीर्त्तितः।

३ जड़ता गद्गदावाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि। प्रस्तब्धे नयने चैव मुख-

स्वाद मीठा, ऐसे लक्षणयुक्त ज्वरको कम्पन सन्निपात कहा है। यह लक्षण अनेकों ज्वरोंमें देखे जा सकते हैं, इसके लक्षणोंमें कोई विशेषता नहीं है।

बभ्र सन्निपात—एकाएक प्रलाप, मोह, मूर्छा, अरति, भ्रम उत्पन्न हो, साथमें मन्या (ग्रीवा) अकड़ जाय, ऐसे लक्षणयुक्तको बभ्र सन्निपात कहा है। यह और सम्मोहक दोनों एक ही सन्निपात हैं। इसके अर्ध श्लोकसे शीर्षमण्डलावरणप्रदाहके लक्षण घट रहे हैं। क्योंकि ग्रन्थकार स्पष्ट करता हैं कि गर्दनके अकड़ जाने पर मृत्यु हो जाती है। बभ्र और सम्मोहनके पूर्वार्द्धका श्लोक भी एक ही है। इसलिये इन दोनोंको एक ही समझना चाहिये और शीर्षमण्डलावरणप्रदाहके ही लक्षण मानना चाहिये।

याम्य, क्रकच, पालक सन्निपात—मोह, प्रलाप, मूर्छा, तमोदर्शन, हस्तपाद कम्प, शिरोग्रह, कास, श्वास, भ्रम, तन्द्रा, मूर्च्छा, हृद-पीड़ा, वाणी-स्तम्भ, नेत्र-स्तब्ध तन्द्रा,

---

माधुर्यमेव च ॥ कफोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। मुनिभिः सन्निपातोऽयं उक्तः कम्पन संज्ञकः ॥

१ प्रलापायास सम्मोह कम्पमूर्छारतिभ्रमाः। मन्यास्तम्भेन मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषणम् ॥ २ मोह प्रलाप मूर्छाः स्युस्तमः कम्पशिरोग्रहः। कास श्वासौ भ्रमस्तन्द्रा संज्ञानाशो हृदिव्यथा ॥ अर्वाक् त्रिरात्रान्मृत्युश्च तन्द्रास्यात्स्तब्ध नेत्रता। एषां त्रयाणां नामानि याम्यक्रकचपालकः ॥

ऐसे लक्षणयुक्तको उक्त तीनों नामसे पुकारते हैं। इसमें रोगी तीन दिनमें मर जाता है। यह सन्निपात भी शीर्षमण्डल-प्रदाह ही है। इसमें दिये लक्षण यद्यपि पूर्वके दिये लक्षणोंसे अधिक हैं तथापि वह सब इसी ज्वरमें मिलते हैं।

कूटपाल सन्निपात—ग्रन्थकार कहता है कि तीनों दोषोंके बराबर प्रकोपसे बराबर लक्षणयुक्त तीन दण्डके समान जो बलवान् हो, तीन बाहु तीन पादवाले ज्वरवत् भयंकर हो, पूर्ण लक्षण जिसमें मिलें, उसको कूटपालक सन्निपात कहा है। ग्रन्थकारने लक्षणोंका कोई निर्देश नहीं किया, इसीलिये इसपर कोई अनुमान लगाना वृथा है।

हारिद्रक सन्निपात—जिसमें[2] नेत्र, नख, देह, हथेली सब पीले हो जायँ, थूकमें भी पीलापन हो, उसको हारिद्रक कहा है। इस ज्वरमें दाह, प्रलाप, छर्दि, सिरमें दर्द, तीव्र तृषा होती है, ज्वरके साथ कामला हो जाता है, ऐसे लक्षण-युक्तको हारिद्रक सन्निपात कहा है। यह ज्वर कालरूप माना गया है। इसके सम्पूर्ण लक्षण आधुनिक पीतज्वरसे मिलते हैं। किन्तु यह ज्वर आजकल भारतमें नहीं दिखाई

---

१ त्रयाणामपिदोषाणां समरूपाणि ,लक्षयेत्। त्रिदण्डसम-बलास्तैस्तैर्बाहुस्त्रिपादवत् ॥ तैः सर्वैरेव सम्पूर्णो विज्ञेयः कूट-पालकः। २ हारिद्रं देहनखनेत्रकरांघ्रिमध्ये निष्ठविनादथशनैरुपलक्षि-तोयः। हारिद्रकः स च भवेत् किल सन्निपातः ॥ दाह प्रलापौ छर्दिश्च शिरोरुक् तीव्रतृड् भवेत्। सकामला ज्वरश्चासौ ज्वरो हारिद्र संज्ञितः॥

देता। यह ज्वर अफ्रिका मध्य अमेरिका, मेक्सिको आदि देशोंमें पाया जाता है। सम्भव है, पूर्वकालमें यहाँ भी रहा हो।

इससे आगेके संग्राम, दारिक, व्यालाकृति, विद्धाख्य, शर्कराख्य, भल्लू आदि सन्निपातोंके लक्षण विद्यमान ग्रन्थोंमें नहीं मिलते। मालूम होता है लेखकोंके ग्रन्थोंके लोप हो जानेसे उन्हींके साथ इनके लक्षण भी लोप हो गये।

अब हम उन १३ सन्निपातोंका विवेचन करेंगे जिनका उल्लेख नव्य ग्रन्थोंमें मिलता है और जो इस समय पठन-पाठनमें प्रचलित हैं।

इन १३ सन्निपातोंका जिन आचार्योंने उल्लेख किया है, ज्ञात होता है, उन्होंने इन सन्निपातोंके अवधिकालको भी जाना था, और वह यह भी अच्छी तरह जान गये थे कि इनमें कौनसे साध्य और कौनसे असाध्य हैं।

सन्निपातोंका अवधिकाल क्या? अवधिकालसे अभिप्राय है सन्निपातोंके ज्वरोंके रहनेकी परमायु। अर्थात् जिस दिनसे ज्वर चढ़े वह ज्वर कितने दिन रहेगा, उसके उस अवधिको परमायु कहते हैं। प्रायः यह १३ सन्निपात जो कहे गये हैं वह या तो उतने दिनके अन्त तक उतर जाते हैं या रोगीके जीवनको संकटमें डाल देते हैं, ऐसा

---

१ सन्धिकस्तन्द्रिकश्चैव कर्णकः कण्ठकुब्जकः। जिह्वकश्चित्त विभ्रंशः षट् साध्याः सप्त मारकाः॥

ग्रन्थकारका मत है। ऐसे ज्वरोंको इस समय अवधिबन्धी ज्वर भी कहते हैं। इनकी यह अवधि इनके निर्णयमें परमसहायक है। इन १३ सन्निपातोंसे पूर्व जितने भी सन्निपात कहे गये हैं उनमेंसे किसी सन्निपातकी परमायुका उल्लेख नहीं पाया जाता। ज्ञात होता है कि उस समय वैद्योंका ध्यान ज्वरोंकी अवधिबन्धिताकी ओर नहीं गया था। बादमें इसके महत्त्वको जाना गया।

कौन २ से सान्निपातिक ज्वर किस २ आयुमर्यादाके हैं? इसको ग्रन्थकार कहता है कि सन्धिककी ७ दिन, अन्तककी १० दिन, रुग्दाहकी २० दिन, चित्तविभ्रमकी १३ दिन, शीतांगकी १५ दिन, तन्द्रिककी २५ दिन, कण्ठकुब्जकी १३ दिन, कर्णककी ३ मास, भुग्ननेत्रकी ८ दिन, रक्तष्ठीवीकी १२ दिन, प्रलापककी १४ दिन, जिह्वककी १६ दिन, अभिन्यासकी १५ दिन परमायुके होती है।

अब हम इन सन्निपातोंके शास्त्रीय लक्षण देकर उनकी इस समय मिलनेवाले ज्वरोंसे तुलना करेंगे। इस समय

---

१ सन्धिके सप्तरात्राणि चान्तिके दश वासराः। विज्ञेया वासरास्तत्र कण्ठकुब्जे त्रयोदश॥ कर्णकेतु त्रयोमासाः भुग्ननेत्रे-दिनाष्टकम्। रक्तष्ठीवी द्विदशाहानि चतुर्दश प्रलापके॥ जिह्वके षोड़श हानि अभिन्यासे तुशा पक्षकम्। रुग्दाहे विंशतिर्ज्ञेयास्त्रयोदश च विभ्रमे॥ शीतांगे पक्षमेकतु तन्द्रिके पचविंशतिः। परमायुरिद प्रोक्तं म्रियते तत्क्षणादपि॥

आधुनिक ज्वरोंसे इन सन्निपातोंका पूर्णतया मेल इसलिये भी नहीं बनता क्योंकि परिस्थिति परिवर्त्तनसे उनके लक्षणोंमें कुछ-न-कुछ अन्तर पड़ गया है।

सन्धिक[1] सन्निपात— सबसे पहिले हृदय या पार्श्वमें शूल उठे, मुख सूखे, वमन आवे और शरीरमें बहुत वेदना हो, श्लेष्मकी तथा ज्वरकी वृद्धि हो, शरीरको शक्ति क्षीण हो जाय, निद्रा जाती रहे, ऐसे लक्षण युक्तको सन्धिक सन्निपात कहा है। मतान्तरसे दूसरे आचार्य कहते हैं कि ज्वरके साथ छातीमें वातका शूल उठे और उससे रोगी बहुत व्याकुल हो, सन्धियोंमें शोथ और उग्र दर्द हो, निद्रा नाश हो, ऐसे ज्वरको सन्धिक कहते हैं। इन दोनोंके लक्षणोंमें निम्न बातका अन्तर है। एक आचार्य सन्धियोंमें पीड़ा होनेका उल्लेख करता है किन्तु दूसरा सन्धिका नाम लेकर उसमे वेदना शोथ होती है, ऐसा कहता है।

इस समय इस सन्निपातसे मिलते-जुलते लक्षण डेंगू ज्वर या अस्थिभंजी ज्वरमें देखे जाते हैं। सन्धिक ज्वरकी

---

१ पूर्वरूपं हृच्छूल सम्भवं शोष छर्दि बहुवेदनान्वितम्। श्लेष्मताप वलहानि जागरं सन्निपातंहितं सन्धिकं वदेत्। स ज्वर स्तनौ च मरुदर्तयः प्रतत च मर्यादयः स समुद्भवति सन्धिषु श्वयथुरुग्ररुक् ॥ दरिद्रमिवकामनीं त्यजति यत्र निद्रान्तरम् त्रिदोष जनितं ज्वरमिदं सन्धिगं वक्षो ॥

मर्यादा ७ दिनकी कही है। इस ज्वरकी भी ७ ही दिनकी मर्यादा होती है। किन्तु, अस्थिभंजी ज्वरमें इस समय कुछ मुख्य लक्षण ऐसे पाये जाते हैं जिसका उल्लेख सन्धिकमें नहीं हुआ है। सम्भव है, समयके अनुसार लक्षणोंमें वृद्धि हुई हो। इसके कुछ लक्षण फुफ्फुसप्रदाही ज्वरसे भी मिलते हैं।

अन्तक सन्निपात[1]—दाहके साथ वेगवान ज्वर हो, ज्वर बढ़ने पर मोह, तृषा, सिर मारना, हिचकी, श्वास, कास बढ़ें तो ऐसे ज्वरको अन्तक कहते हैं। इसकी परमायु दस दिनकी है। इस ज्वरमें दाह प्रधान लक्षण है। इस समय इस मर्यादाका ज्वर डिफ्थीरिया या कण्ठारोहण देखा जाता है, किन्तु इसके लक्षणसे अन्तकके लक्षणोंमें कोई समता नहीं दिखाई देती। दूसरे इस समय फुस्फुसप्रदाही नामका जो ज्वर देखा जाता है जिसकी अवधि १२ दिन की है। इसके लक्षणसे साधारणतः श्वास काससे तो पूरा मेल बनता है, अन्य लक्षण कुछ ही इसमें मिलते हैं, किन्तु अवधिमें दो दिनका अन्तर पड़ता है. इसलिये अन्तकको इसके साथ मिलाना भी उचित नहीं जँचता।

रुग्दाह सन्निपात[2]—ज्वर वेगवान हो, साथमें ही

---

१ दाहं करोति तनु तापनमातनोति मोहं ददाति तृडतीव शिरः प्रकम्पम्। हिक्कां करोति कसनं श्वसन जुहोति जानीहितं विबुधवर्जित-मन्तकाख्यम्। २ प्रलाप परितापन प्रबलमोहमाद्यंभ्रमः। परिभ्रमण

प्रलाप, मोह हो, भ्रम हो, शरीरमें चल पीड़ा उठे, साथमें कण्ठ, मन्या और हनुमें भी दर्द हो, प्यास बहुत लगे, श्वास हो, शूल, हिक्कासे रोगी व्याकुल हो, ऐसे लक्षणयुक्त ज्वरको अन्तक कहा है। इसकी अवधि २० दिनकी कही है। बीस दिनकी मर्यादाका इस समय एक भी ज्वर नहीं देखा जाता। २१ दिन मर्यादाका मन्थर नामक ज्वर अवश्य है। किन्तु, इसके लक्षणोंसे मन्थरके लक्षणोंमें कोई समानता नहीं। या तो अन्तक और रुग्दाह पूर्वकालमें होते होंगे अब नहीं रहे, अथवा उनके लक्षणोंमें अन्तर आ गया है।

चित्तविभ्रम सन्निपात—शरीरमें पीड़ा, भ्रम, मोह, ज्वरकी अधिकता, नेत्राण्डोंका स्थिर होना और उनका रूप भयंकर दिखाई देना, हँसना, नाचना, गाना, यह लक्षण जिसमें हों उसको चित्तविभ्रम कहा है। इसकी अवधि १३ दिनकी कही है। इस समय इस अवधिके समीपका टाइफस और फुफ्फुसप्रदाही यह दो ही ज्वर पाये जाते हैं, किन्तु इसके लक्षण इन दोनोंसे नहीं मिलते। दूसरे इसमें

वेदना व्यथित कण्ठमन्या हनुः। निरन्तर तृषाकरः श्वसनमूल हिक्काकुलः। सकष्टतर साधनो भवति हन्ति रुग्दाहकः॥

१ यदि कथमपि पुंसां जायते कायपीडा भ्रम मद परितापो मोह वैकल्य भावः। विकट नयनं हासो गीत नृत्य प्रलापो विदधति किल साध्यः कोऽपि चित्तभ्रमाख्यः॥

कोई ऐसे विशेष लक्षण भी नहीं हैं। जो लक्षण इसमें आये हैं वह लक्षण उन समस्त तीव्र ज्वरोंमें उत्पन्न हो सकते हैं जो इस समय पाये जाते है। इस प्रकारका सन्निपात पहिले रहा हो तो कहा नहीं जा सकता। किन्तु इस मर्यादाका इस समय कोई ज्वर नहीं देखा जाता।

शीताङ्ग सन्निपात[1]—बरफ जैसा बाहरसे शरीर शीतल लगे, भीतर उग्रताप हो, कम्प हो, शरीर शिथिल निष्क्रिय अतिक्षीण हो जाय, आवाज न निकले, हिचकी, श्वास, वमन, गला घरघरावे, अतिसार हो, ऐसे लक्षणोंसे सम्पन्न ज्वरको शीतांग सन्निपात कहा है। इसकी अवधि १५ दिनकी कही है। इस अवधिका भी इस समय कोई ज्वर नहीं पाया जाता जिससे इसकी तुलना की जाय। सम्भव है यह भी पहले रहा हो।

तन्द्रिक सन्निपात[2]—ग्रन्थकार कहता है कि ज्वर तो हो किन्तु नेत्रसे दिखाई न दे। वास्तवमें ज्वर नेत्रसे देखनेकी चीज नहीं, स्पर्शसे नाड़ी द्वारा उसकी गति वृद्धिसे इसका बोध होता है। हाँ, ज्वर-वेगसे चेहरेका तमतमा

---

१ हिम शिशिर शरीरो वेपथु श्वास हिक्का शिथिल सकलांगः क्षीणनादोग्र तापः। वमथु रवथुकासच्छर्दतिसारयुक्तस्त्वरितमरणकर्ता शीतगात्र प्रतापः॥ २ ज्वरे प्रथम समुत्पन्ने चक्षुर्भ्यां नैव पश्यति। तन्द्रिकः सन्निपातोऽयं कष्टसाध्यं वदंतिते॥

उठना, नेत्रोंका लाल हो जाना, यह नेत्रसे दिखाई देनेवाली चीजें हैं, किन्तु ग्रन्थकार कहता है कि इस ज्वरके चिह्नोंकी प्रतीति न हो, किन्तु ज्वर हो उसे तन्द्रिक कहते हैं। लक्षणमें विशेषता तो है किन्तु इस समय ऐसी विशेषता वाला ज्वर जिसमें और कोई लक्षण नहीं बताये गये, इस समय नहीं पाया जाता। इसकी अवधि २५ दिनकी कही है। इस अवधिका भी इस समय कोई ज्वर नहीं दिखाई देता जिससे इसकी तुलना हो। सम्भव है यह भी पूर्वकालमें रहा हो।

कण्ठकुब्ज सन्निपात—तन्द्रा अधिक हो, शिर व कटिमें शूल हो, श्लेष्म, अतिसार, तृषा, मोह, कम्प, अरति, दाह, श्वास हो, जिह्वा कांटोंसे व्याप्त मोटी काली हो जाय, ग्लानि बनी रहे, शरीर ज्वरके कारण तमतमाया हो, वाणी निर्बल हो जाय, हनुग्रह हो, रोगी प्रलाप करे, मूर्छित हो जाय, कानमें दर्द हो, खारश हो, नेत्रोंमें नींद बनी रहे,

---

१ प्रभूता तन्द्रार्ति स्वरकफपिपासा शुग्युता। भवेच्छ्यामा जिह्वा प्रथुल कठिना कण्टकयुता॥ अतिसारः श्वासः क्लमथुः परितापः श्रुतिरुजो। भृशं कण्ठे कण्डुर्भवति किलः निद्रानयनयोः॥ अधःपतति भूमौ च वारं वारं न तिष्ठति। दीपस्य तेजो नेत्राभ्यां द्रष्टुं शक्तोऽस्ति नैव सः॥ दर्शनं च सुजासारे असाध्यं तस्य लक्षणम्।

अन्ये—शिरोऽर्तिकण्ठ ग्रह दाह मोह कम्प ज्वरारक्त समीरणार्तिः। हनुग्रहस्ताप प्रलाप मूर्छास्यात्कण्ठकुब्जो किल कष्टसाध्यः॥

वारम्वार उठनेकी चेष्टा करे, नेत्रज्योति जाती रहे, शरीर पर रक्त वर्णके मण्डल दिखाई दें, ऐसे लक्षणयुक्त सन्निपातको कण्ठकुब्ज कहा है। इसकी परमायु १३ दिनकी कही है। इस अवधिके समीपका इस समय टाइफस नामक ज्वर पाया जाता है। टाइफस ज्वरकी अवधि १२ दिनकी होती है और यह १३ दिनका है। इसके लक्षणसे टाइफसके लक्षणोंका कुछ साम्य है। इसमें ग्रन्थकारने एक विशेषता यह बतलाई है—तालुपात और हनुग्रह। इसका नाम भी सम्भव है इसी लक्षण पर हो। यह लक्षण टाइफसमें नहीं देखे जाते। सम्भव है समयके ही फेरसे इन लक्षणोंमें कुछ परिवर्तन आ गया हो। शीर्षमण्डलावरणप्रदाहसे इसके लक्षण मिलते हैं किन्तु ज्वर मर्यादा नहीं मिलती।

कर्णक सन्निपात—सन्धियोंमें शोथ, शिर तथा समस्त शरीरमें दर्दकी व्यथा, कानके नीचे शोथ व दर्द, अप्रीति, प्रलाप, मोह, मद, हाथ-पैरका कांपना, कण्ठग्रह, यह लक्षण कर्णकके कहे हैं। इसकी अवधि ३ मासकी कही गई है। इस समय इस आयु-मर्यादावाला माल्टाज्वर दिखाई देता है। लक्षण भी प्रायः मिलते-जुलते हैं। किन्तु, कर्णमूल, शोथ, कण्टग्रह आदि लक्षण माल्टा ज्वरमें क्वचित

---

१ श्वयथुरति बहुव्यथस्त्रिदोषो ज्वरार्तो भवति श्रुतेरधोयः।
प्रलपन मद मोह कम्प कण्ठग्रह बधिरत्वं स कर्णकाख्यः॥

ही दिखाई देते हैं। सम्भव है, पूर्वकालमें इन लक्षणोंकी प्रधानता रही हो और इसकी इस विशेषताके ऊपर ही इसका नामकरण हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

भुग्ननेत्र सन्निपात[1]—वेगवान् ज्वर, बलक्षीणता, बधिरता, श्वास, नेत्राण्डका फिर जाना, मोह, प्रलाप, भ्रम, हाथ, पैर-कम्पन,—इन लक्षणोंसे युक्त ज्वरको भुग्ननेत्र सन्निपात कहा है। इसकी अवधि ८ दिन की कही गई है। इस अवधिका इस समय पुनरावर्ती या रिलेप्सिङ्ग ज्वर पाया जाता है। लक्षण भी मिलते हैं, किन्तु नेत्राण्डका वक्र हो जाना क्वचित् ही रोगियोंमें दिखाई देता है। ज्ञात होता है कि नामकरण इसी लक्षण पर हुआ है। पर अब इस लक्षणकी प्रधानता नहीं दिखाई देती।

रक्तष्ठीवी सन्निपात[2]—ज्वर, वमन, तृषा, थूकके साथ रक्तपात, मोह, शूल, अतिसार, हिचकी, अफारा, चक्कर, ग्लानि, श्वास, वेहोशी, श्यामतायुक्त रक्तवर्णके मण्डलका शरीर पर प्रादुर्भाव यह लक्षण रक्तष्ठीवीके ग्रन्थ-

---

१ ज्वरबलापचयः श्रुतिशून्यता श्वसन भुग्नविलोचन मोहितः। प्रलपन भ्रम कम्प वान्यथा त्यजति जीवितमाशु स भुग्नदृक्॥

२ रक्तष्ठीवी ज्वर वमि तृषा मोह शूलातिसारः। हिक्का ध्मान भ्रमण दवथु श्वास संज्ञा प्रणाशः। श्यामारक्ताधिकतर तनुर्मण्डलोत्क्लिष्टदेहः। रक्तष्ठीवीनिगदित इह प्राणहर्त्ता प्रसिद्धः॥

कारने दिये हैं। इसकी आयु-मर्यादा १२ दिनकी कही है।

मर्यादाका इस समय टाइफस नामक ज्वर पाया जाता है तथा जो लक्षणोंकी विशेषता इसमें दर्शायी है वह लक्षण भी इसमें देखे जाते हैं। किन्तु यह ज्वर भारतमें कम और योरपमें अधिक देखा जाता है। सम्भव है, पूर्व कालमें यहां भी रहा हो।

प्रलापक सन्निपात—हाथ पैरका काँपना, तीव्र ज्वर, बलवान् सिरदर्द, शोथ, दूसरोंकी चिन्ताका ध्यान, बुद्धिनाश, व्याकुलता, बहुत प्रलाप, यह चिह्न प्रलापक सन्निपातके कहे हैं। इसकी अवधि १४ दिनकी मानी है। इस मर्यादाका इस समय उक्त लक्षणोंसे मिलता-जुलता कोई ज्वर नहीं देखा जाता।

जिह्वक सन्निपात—सब लक्षणोंसे पूर्व जिह्वा पर कांटे उठ आवें तथा श्वास, खांसी, ज्वर, विकलता, बधिरता, मूकता, बलहानि, यह लक्षण जिह्वक सन्निपातके कहे

---

१ कम्पप्रलापपरितापन शीर्षपीड़ा शोथ प्रलाप बलवान्परोऽन्यचेतः। प्रज्ञाप्रणाश विकल प्रचुर प्रवादः क्षिप्रं प्रयाति पितृपाल गृहं प्रलापी॥

२ प्रथमेन च जिह्वायां उत्पादयति कंटकः। जिह्वकः सन्निपातोऽयं कष्टसाध्यं वदन्तिते॥ श्वसनकास परितापविह्वलाः कठिन कंटकयुतोऽति जिह्वकः। बधिरत मूक बलहानि लक्षणो भवति कष्टतर साध्य जिह्वकः॥

हैं। इसकी परमायु १६ दिनकी कही है। इस समय इस अवधिका कोई ज्वर ज्ञात नहीं।

अभिन्यास सन्निपात—शीत लगकर ज्वर होना,[1] दिनको नींद, रात्रिको अनिद्रा, नींद बहुत आना या न आना, प्रस्वेदाधिक्य या स्वेदावरोध, गाना, नाचना, हँसना, कुचेष्टायें करना, नेत्र जलपूर्ण, लाल तथा फिरे हुए स्थिर रहना, आँखके कोने पर फुन्सी निकलना, पसलियाँ, सिर

---

१ तद्वच्छीत महानिद्रा दिवा जागरणं निशि। सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा॥ गीत नर्तन हास्यादि विकृतेहा प्रवर्त्तनम्। साश्रूणि कलुषे रक्ते भुग्ने लुलित पक्ष्मणि॥ अक्षणी पिटिका पार्श्वं मूर्धपर्वास्थिरुग्भ्रमः। सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः॥ परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्तांगता परं। ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥ शिरसो लोटनं तृष्णा निद्रानाशे हृदिव्यथा। कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्॥ स्वेद मूत्र पुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः। कृशत्वं नाति गात्राणां प्रततं कण्ठ कूजनम्॥ मूकत्वं स्रोतसांपाको प्रवृत्तिर्वाऽल्पशो भवेत्। स्निग्धास्यता वलभ्रंशः स्वरसादः प्रलापता॥ दोष पाकश्चिरात्तन्द्रा कर्णवाधिर्य लोचने। मुहुर्दाहो मुहुंशीतं वाद्यं कण्डूर्दिवाशयं॥ महास्वेदो नैवस्वेदो महादाहश्च जायते। प्रलाप हास्य गीतानि हिक्का ध्मान सकासरुक्॥ विकृतिर्दन्त नेत्राणां श्वास कास त्रिदोषकृत्। सन्निपातं अभिन्यासं तं ब्रूयाच्च हतौजसम्॥ यस्तु सन्धि ग्रहादीनां सर्वैः लिंगैः समायुतः। विशेषाद्दाहमोहौ च सोऽभिन्यासोऽति दुःसहः॥

सन्धिमें दर्द, भ्रम, कर्णनाद व दर्द, गलेमें कांटे, जिह्वा हुई-सी काली शुष्क खरदरी, शरीरमें दाह, थूकमें रक्त, पित्त, श्लेष्म मिश्रित होकर आना या वमनमें रक्तपित्त आना, सिर मारना, तृषा, छातीमें दर्द, शरीर पर श्याम वर्णके मण्डलाकार विन्दु निकलना, मलमूत्र व प्रस्वेदका थोड़ा तथा देर में आना, निर्बलता, गलेमें श्लेष्म बोलना, आवाज़का मन्द पड़ जाना, नाक मुँह आदि स्रोतोंका पक जाना, चेहरे पर स्निग्धता, शक्तिनाश, स्वरनाश, प्रलाप, दोषोंका पाचन देरमें होना, तन्द्रा, बधिरता, दृष्टिनाश, कभी दाह कभी शीत लगना, अधिक प्रस्वेद, हिचकी, आध्मान, खाँसी, शरीरमें दर्द, दन्त, नेत्रका विकृत होना, श्वास, यह लक्षण जिस ज्वरमें पाये जाय उसे अभिन्यास सन्निपात कहा है। मतान्तरसे कहा गया है कि सन्धियोंमें दर्द, अकड़ाव हो और उक्त लक्षण दिखाई दें, विशेष रूपसे दाह, मोह हो ऐसे ज्वरकी भी अभिन्यास संज्ञा दी है। इसकी अवधि १५ दिन की कही गई है। इस समय इस अवधिका कोई ज्वर नहीं मिलता। हाँ, इसके लक्षण फुफ्फुस प्रदाही ज्वरके लक्षणोंसे मिलते हैं। ज्वरकी अवधि १२ दिनकी है। वेगवान् लक्षणोंकी स्थितिमें मर्यादा कालका बढ़ जाना कठिन बात नहीं। प्रायः देखा जाता है कि भयंकर उपद्रव होने पर उनके शान्त होनेमें दो-दो चार-चार दिनकी देरी लग ही जाती है।

सुश्रुतजीने जो एक प्रकारका सन्निपात माना है

इसका नाम भी उन्होंने अभिन्यास ही दिया है। किन्तु उनके अभिन्याससे उक्त अभिन्यासके लक्षणोंमें अन्तर है। हम यहाँ सुश्रुतजीके दिये अभिन्यासको भी देते हैं।

सुश्रुतोक्त अभिन्यास सन्निपात—गर्मी अधिक न हो किन्तु साधारण शीत लगकर ज्वर हो, भ्रम हो, कान्ति नष्ट हो जाय, जिह्वा खरदरी शुष्क हो, कण्ठ भी शुष्क हो, पसीना, मूत्र, मल न आवे, नेत्र जलपूर्ण, नेत्राण्ड स्तब्ध, टेढे हों, अरुचि हो, कान्ति जाती रहे, श्वास लेता हुआ गिरकर ओज नष्ट हो जाय, रोगी शिथिल हो जाय, प्रलाप करे, ऐसे लक्षणोंसेयुक्तकी अभिन्यास संज्ञा है। सुश्रुतजी-के दिये लक्षण टाइफससे मिलते हैं, फुफ्फुसप्रदाही ज्वरसे नहीं।

सान्निपातिक ज्वरों पर कुछ विचार

प्राचीन सन्निपातोंका अनुशीलन करने पर पहिली बात तो यह स्पष्ट होती है कि इनके लक्षण व चिह्न जो भी वैद्यों द्वारा बताये गये हैं, एक ग्रन्थकारके दिये लक्षणोंसे दूसरेके लक्षण नहीं मिलते। दूसरे कोई भी सन्निपात

---

१ नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः। खरजिह्वा-शुष्ककण्ठः स्वेद विण्मूत्र वर्जितः॥ साश्रुनिर्भुग्न नयनो भक्तद्वेषी हतप्रभः। श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः॥ अभिन्यासंतु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे।

निश्चित लक्षणवाला नहीं जाना गया। इसलिये जिस ग्रन्थकारको देशकाल परिस्थितिके अनुसार जिन-जिन लक्षणोंका बोध हुआ उसने उसी सन्निपातका अपना नाम रखकर अपने जाने लक्षण दे दिये। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों द्वारा इस तरह सन्निपात बढ़ते चले गये।

एक बलवान कारण और भी था, जो इस विभेदके बढ़नेमें सहायक हुआ। वह क्या? यह अच्छी तरह देखा व समझा जा चुका है कि किसी भी औपसर्गिक ज्वरके होनेपर यदि उत्तापकी मात्रा १०३ फा० अंश तक बनी रहे तो उपद्रव नहीं बढ़ता। जब उत्ताप १०५ अंश के लगभग पहुँच जाय तो उस उत्तापका प्रभाव शरीरके आन्तरिक अंगों पर अधिक पड़ता है और वह उसे सहन नहीं कर सकते। कई बार विप्रकृष्ट कारणोंका शरीरके विशेष अंग केन्द्रस्थल बनते हैं। जैसे मन्थरज्वरी जैवोंका क्षुद्रान्त्र शीर्ष मण्डली जैवोंका मेरुदण्ड, प्लेगी जैवोंका लसीका-ग्रन्थि, फुफ्फुसप्रदाही जैवोंकी श्वास-प्रणाली या फुफ्फुस। यह विप्रकृष्टी कारण जब अपने केन्द्रमें पहुँचकर उसको विकृत करते हैं, उस समय एक तो उनके तथा उनके विषोंके कारण अंगोंमें विकृति आ जाती है, दूसरे जब ज्वरका प्राबल्य होता है तो उस अंगकी विकृतिमें और अधिक वृद्धि होती है। मस्तिष्कमें विकृति हो तो मूर्छा, प्रलाप, अनैच्छिक हस्तपाद संचालन, आक्षेप, तन्द्रा, भ्रम, मद, मोह

आदि मानसिक विक्षेप बढ़ते हैं। फुफ्फुस व वायु प्रणालीमें विकृति आवे तो श्वास, कास, श्लेष्म वृद्धि देखी जाती है। वक्षोदर मध्यस्थ देशमें विकृति हो तो हिक्का आती है, आमाशयमें विकृति हो तो अरुचि, वमनेच्छा, वमन, ग्लानि आदि देखे जाते हैं। क्षुद्रान्त्र वृहदन्त्रमें विकृति हो तो वमन, विष्टब्धता या अतिसार, आध्मान, शूल, गुड़गुड़ाहट। यकृत् पित्ताशयमें विकृति आवे तो पित्तकी वमन, कामला, शूल, शोथ आदि उपद्रव देखे जाते हैं। मांसपेशियोंमें, रक्तमें विकृति आवे तो सर्वांग पीड़ा, दाह, सन्धि भेद, तोद, शिरःशूल, कटि-शूल, तृषा आदि अनेक उपद्रव देखे जाते हैं। हृदयमें विकृति आवे तो ठण्डा पसीना, हृदयका बैठना, उड़ना, सर्वांग शिथिलता, एकाएक उत्तापका घटना आदि उपद्रव देखे जाते हैं। समस्त सान्निपातिक उपद्रव भिन्न २ आंगिक विकृतिके कारण ही उत्पन्न होते हैं। एक ही सन्निपातके चार-पांच रोगियोंमें समस्त लक्षण कभी एक जैसे नहीं मिलते, इसका कारण यही है कि किसी रोगीका कोई अंग अधिक विकृत होता है तो किसीका कोई अंग। सब रोगियोंमें एक जैसे समस्त अंगोंकी विकृति नहीं पाई जाती।

यह अवश्य होता है कि कैन्द्रिक अंग—जहां रोगके जैव अपना निवासस्थान बनाते हैं—उस रोगमें प्रधानतया विकृत होता है। रोग बलवान् हो तो अधिक और रोग मन्द

हो तो मन्द लक्षण देखे जाते हैं। इन्हीं लक्षणोंके आधार पर रोगका विनिश्चय किया जाता है। केन्द्र रहित लक्षणोंके आधार पर रोग न निश्चित हो सकते हैं न वह लक्षण उस रोगके माने जा सकते हैं।

पूर्वकालमें वैद्योंका इन आङ्गिक विकृतियोंकी ओर ध्यान ही नहीं गया था। वह बाह्य लक्षणोंको देख कर ही उनका विभेद करते चले गये इसीलिये संख्या बढ़ती चली गई। अब वैद्योंको ऐसी भूलोंमें नहीं पड़ना चाहिये। रोगके कारणको उन्हें प्रथम जानना चाहिये तथा उस कारणोद्भूत उपद्रवों व लक्षणोंको स्मरण रखना चाहिये। क्योंकि हरएक कारण अपने लक्षणोंकी विभिन्नता रखते हैं। वही लक्षण उस रोगकी निश्चितिमें सहायक होते हैं। जैसे–मन्थरज्वरी विप्रकृष्ट कारणका केन्द्र क्षुद्रान्त्र है इसीलिये नाभिके आसपास कुछ २ पीड़ा अतिसार वमि, जिह्वापर श्वेत वर्णकी मलिनता, तन्द्रा प्रायः होती है और सातवें दिन ग्रीवा पर मुक्तावत् दाने निकल आते हैं। ज्वर अवि-सर्गी होता है अर्थात् बिलकुल नहीं उतरता। किन्तु, प्रभातके समय कम और दुपहर के पश्चात अधिक होने लगता है। रात्रिको ८–१० बजे तक उसकी स्थिति वैसी ही बनी रहती है। यदि कारण बलवान् न हो तो वमन, अतिसार नहीं आते। केवल ज्वर जिह्वा पर स्थिर वर्णकी मलीनता, तन्द्रा अवश्य होते हैं। कारण बलवान् हों, दोषोंका प्रकोप साथमें हो तथा

उदरविकृति अधिक हो तो उपद्रव वेगवान् बलवान् होते हैं और ज्वरकी मात्रा १०३ अंश तक रहनेके स्थान पर १०४-१०५ अंश तक जाने लगती है, इसीसे लक्षणोंमें वृद्धि होती चली जाती है। उन लक्षणोंको देखकर उसे कोई कहे कि यह और ज्वर है, तो ऐसी कल्पना करना भूल है।

इस समय जितने भी सान्निपातिक ज्वर देखे गये हैं उनको यदि कारणोंके अनुसार विभक्त किया जाय तो उनकी संख्या १४-१५ बैठती है।

यथा—फुफ्फुस प्रदाहीज्वर, शीर्षमण्डल प्रदाहीज्वर (गर्दनतोड़), मन्थरज्वर (अन्त्रप्रदाहीज्वर), प्लेग (महामारी), इन्फ्लुइञ्जा (श्वसनकज्वर), माल्टाज्वर, टाइफसज्वर, पुनरावर्तीज्वर (हेरफेर), कालज्वर, अस्थिभंजीज्वर (हड्डीतोड़ज्वर), पीतज्वर, चित्रालीज्वर (मरुमक्षिका), रोमांतिका, प्रसूतीज्वर, विषमज्वर। इनमेंसे चित्रालीज्वर, पीतज्वर हमारे देशमें नहीं पाये जाते। टाइफस, माल्टाज्वर बहुत ही कम होते हैं। कालज्वर केवल बिहार, उड़ीसा, बङ्गाल, आसाम, ब्रह्मदेशमें ही पाया जाता है। प्लेगका भी अब कभी-कभी दौरा होता है। अधिकतर इस समय मन्थरज्वर, फुफ्फुस प्रदाहीज्वर बहुत व्यापक रूपमें देखे जाते हैं। इनसे उतरके शीर्षमण्डल प्रदाहीज्वर, अस्थिभञ्जी और श्वसनकज्वर (इन्फ्लुइञ्जा) दिखते हैं। यह भी प्रायः जहाँ फैलते हैं वहाँ काफी फैलते हैं और जहाँ शान्त रहते हैं

वहाँ उनका सालों पता नहीं लगता। इसीलिये वैद्यको इस बातकी ओर अपना ध्यान अवश्य बनाये रखना चाहिये कि इनमेसे कोई सञ्चारी रोग उत्पन्न तो नहीं हो चुके हैं। जिनकी सूचना मिले उनके निश्चित लक्षणोंकी ओर फिर रोगी देखते समय विशेष ध्यान बनाये रखना चाहिये।

दूसरे ऋतुओंको भी दृष्टि सम्मुख रखना चाहिये। प्रायः विषमज्वर, अस्थिभंजीज्वरका आरम्भ शरद् ऋतुमें होता है। मन्थरज्वरका आरम्भ वसन्त ऋतुमें। फुफ्फुस प्रदाहीज्वरका हेमन्त या शरद् ऋतुमें अधिक देखा जाता है। तथापि अब तो मन्थर और फुफ्फुसप्रदाही यह दोनों ही बड़े-बड़े शहरोंमें बारहो महीने बने रहते हैं। फिर ऋतुकालमें इनकी विशेष वृद्धि देखी जाती है वह अलग।

कुछ अन्य विचारणीय बातें

पूर्वकालमें चाहे कितने ही प्रकारके ज्वर रहे हों और ग्रन्थकारोंने जो उनके विभेद दिये हैं, उस समय चाहे पाये जाते हों, किन्तु जिनके चिह्न इस समय न मिलें, बीसों वर्षके भीतर जिन्हें किसी वैद्यने न देखा हो, ऐसे ज्वरोंके लक्षणोंको पढ़ना और स्मरण रखना वैद्योंके किस कामका ?

जो चीज संसारमें है नहीं, जिसका अस्तित्व मिट चुका हो, उसके सम्बन्धकी जानकारीका बनाये रखना क्या वृथा

नहीं ? मेरे विचारमें निदानका प्रत्येक अंश समयोपयोगी विद्यमान परिस्थितिके अनुकूल होना चाहिये। रोग विनिश्चयका ऐसा साधन नहीं होना चाहिये जो रोगीको देखनेके समय सहायक न हो। जिसके चिह्न विद्यमान रोगोंको न बतावें, उन्हें कण्ठाग्र करनेसे क्या लाभ ?

यह किसी वैद्यसे छिपा नहीं कि आयुर्वेदका निदान भाग आजसे लगभग दो ढाई हजार वर्षसे भी अधिक पुराना है। यह सम्भव है कि जो व्याधियाँ उस समय हों, उस समयकी परिस्थितिके अनुसार उनके दिये गये लक्षण उस समय होंगे। किन्तु इस समय यह तो बड़ेसे बड़े विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि इस देशकी परिस्थिति आजसे दो सहस्र वर्ष पूर्वकी सी अब नहीं रही। जो आर्य जातिका रहन-सहन, खान-पान उस समय था, इस समय नहीं है। देशकी वह स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। जब मनुष्यके साथ संलग्न देशकी समस्त वस्तुएँ बदल गई हैं तो ऐसी स्थितिमें रोगोंका बदल जाना और उनके लक्षणोंका बदल जाना असम्भव बात नहीं। मंथरज्वर, प्लेग, इन्फ्लुइञ्जा, कालज्वर आदि रोगोंका ज्ञान इस थोड़े समयका है। मन्थरज्वरको सबसे पूर्व ठीक २ योगरत्नाकरकारने जाना था। प्लेगका चाहे आजसे एक दो शताब्दी पूर्व भारतमें दौरा हो गया हो; किन्तु उस समय इसके निदानका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अब पचास-साठ

से जब इसका प्रकोप देशपर हुआ तो उस समय इसका
ान किया गया। श्वसनकज्वर चाहे शताब्दियों पूर्व विदेशमें
ह ता हो किन्तु १८९० और १९१८ ईस्वी में जब यह जनपद
विध्वंसनीय रूप धारणकर भारतमें फैला तो उस समयसे
वैद्योंको इसका निदान हुआ। उस समय किसीने इसे वात-
श्लेष्मज्वरसे मिलाया किसीने अन्यसे किन्तु, हम देखते हैं
कि वातश्लेष्मज्वरके लक्षण और इसके लक्षणोंमें काफी
अन्तर है। जब यह मारक स्थितिमें न हो तब भी इसके
लक्षणोंसे वातश्लेष्मज्वरके लक्षणोंकी समता नहीं होती।

१९१८ में जब यह फैला था, मैं चम्बा रियासतकी
राजधानीमें था। पत्रोंमें इसके देशव्यापी संचारकके समा-
चार पढ़ता था, इस बातको आशा स्वप्नमें भी न थी कि
३०,४० मील चौड़ी तथा ५, ५॥ सहस्र फुट ऊंची पर्वत चोटीको
पार करके यह पर्वत प्रदेशमें घुस आवेगा; किन्तु नहीं, यह
देखते २ पर्वत प्रान्तीय शुद्ध वायुको दूपित करता चम्बामें
भी आ पहुँचा। सैकड़ों व्यक्ति दो तीन दिनमें ही बीमार हो
गये। तीसरे दिन शामके समय एकाएक मुझे भी केवल सूखी
खांसीका ठसका आरम्भ हुआ, जो रात्रिको १० बजे तक
काफी बढ़ गयी। खांसीकी जो भी दवा मुँहमें रखता उसका
रूप उग्रसे उग्र होता चला जाता, मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों २
दवा की। रात्रिको ज्वर हो गया। जम्बीरी नींबू, निमक, काली
मिर्च लगाकर उन्हें गरम करके चूसा—खांसीमें इसने जादूका,

चमत्कार दिखाया। तीन दिन बीमार रहा। सिवाय जलमें आधा जम्बीरीरस लेनेके कुछ नहीं लिया। दूसरे दिन ही श्लेष्म रक्त मिश्रित वर्णका हो गया। तीसरे दिन भी श्लेष्मका वर्ण काफी ललाई लिये निकलता रहा। तीन दिनकी बीमारीमें सैकड़ों मनुष्य यमपुर पहुँच गये। मेरा ज्वर चौथे दिन बहुत ही हलका हो गया। पांचवें दिन ज्वर उतर गया और अत्यन्त क्षुधा लगने पर पथ्य लिया इसमें तक्र और जम्बीरीका रस आदि अम्लने महान् लाभ किया। गौ, भैंस पालनेवाले एक गूजर जातिके डेरे (काफले) में २०–२२ आदमी बीमार पड़े। सबोंने अम्ल पीना आरम्भ किया। एक व्यक्ति भी उनके डेरेमें नहीं मरा।

मेरा यहां पर इतना वर्णन देनेका अभिप्राय यह है कि इस रोगका लक्षण तथा इस पर अम्लका उपयोग यह एक ऐसी विरुद्ध स्थिति है जिसका वातश्लेष्मज्वर क्या कोई भी प्राचीन ज्वरके लक्षण और चिकित्सासे इसका कोई मेल नहीं बैठता। इसके बाद भी मुझे दो चार श्वसनकज्वरके रोगियोंकी चिकित्साका अवसर मिला। जब निश्चय हुआ कि यह इन्फ्लुइञ्जा है उन पर अम्ल रसका उपयोग किया, उसका चमत्कृत लाभ देखा। क्या कोई वैद्य वातश्लेष्मज्वरमें नींबूके रसका विधान किसी ग्रन्थमें बता सकेंगे? अथवा कोई वैद्य वातश्लेष्मज्वर पर नींबूके रसको देनेका साहस करेंगे? श्लेष्मामें अम्ल कितनी विरुद्ध बात है? उक्त दृष्टान्त

रखनेका वास्तविक अभिप्राय यह है कि इन नई-नई व्याधियोंको अनेक वैद्य अपनी प्राचीन व्याधियोंके अन्तर्गत कर लेनेका प्रयत्न करते हैं। वास्तवमें यह प्रथा कई दृष्टिसे हानिकर है। हम पीछे बतला चुके हैं कि आजसे दो सहस्र वर्ष पूर्व जो व्याधियाँ थीं, उनके जो लक्षण उस समय मिलते थे उन लक्षणयुक्त व्याधियोंका बहुत कुछ इस समय अभाव है। यदि वह हों भी तो उनका वह रूप, वह स्वभाव परिस्थिति प्रभावसे बदल गया है। जिन व्याधियोंका रूप, स्वभाव बदल गया हो उन्हें वह औषधियाँ ही—जो आजसे दो सहस्र वर्ष पूर्व आविष्कृत हुई थीं—लाभकारी सिद्ध हों हमें तो इसमें संशय है।

क्या वे प्लेग, श्वसनकज्वर, कालज्वर, गर्दनतोड़ बुखार, अस्थिभञ्जी बुखार आदि रोगोंकी चिकित्सा नहीं करते? अवश्य करते हैं। किन्तु, उन्हे सफलता क्यों नहीं मिलती? जिस तरह डाक्टर इन रोगोंकी चिकित्सामें असफल रहते हैं, इसी तरह वैद्य भी देखे जाते हैं। वैद्योंके पास डाक्टरोंकी अपेक्षा रस-चिकित्साका भाण्डार बहुत शक्तिशाली है। किन्तु, इतना बलवान् साधन होने पर भी वैद्योंके बड़े-बड़े रस इन रोगों पर आकर निर्गुण सिद्ध होते हैं। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि इन नई व्याधियोंके लिये नई औषधियोंके आविष्कारकी आवश्यकता है। जो कोई चिकित्सक इन नई परिस्थितियोंमें उत्पन्न व्याधिके

कारण को और उसके रूप, गुण, स्वभावको समझ लेगा तथा उसके विरुद्ध औषधकी योजना करेगा वही इन रोगोंकी चिकित्सामें सफल होगा, दूसरा नहीं। सबसे पहिली बात तो यह है कि बहुतसे वैद्य इन नव्य ज्वर सम्बन्धी रोगोंके सम्बन्धमें बहुत ही कम जानकारी रखते हैं। जो जानते भी हैं वह उन रोगोंको स्थितिके अनुसार समझनेकी चेष्टा नहीं करते हैं। इसीसे उन्हें औषध सम्बन्धी योजनामें सफलता नहीं मिलती। इसको समझने और समझकर चिकित्सा करनेके लिये समयकी आवश्यकता है।

कई वैद्य कहेंगे कि यह आपकी भूल है, इन विचारोंमें कोई सत्यता नहीं। इसीलिये मैं इस बातका उदाहरण देकर समझाऊँगा।

मन्थरज्वर और उसकी चिकित्सामें भूल

मन्थरज्वरका निदान सबसे पूर्व योगरत्नाकरमें तथा उसके पश्चात्के उपचारसार नामक ग्रन्थमें मिलता है। योगरत्नाकर ग्रन्थ ३००–३५० वर्षसे अधिकका नहीं। मुसलमानोंके राजत्वकालमें यह रोग उनके साथ हमारे देशमें आया, ऐसा मैं समझता हूँ। आजसे १०० वर्ष पूर्व इसका प्रकोप पंजाब प्रान्तमें ही देखा जाता था। किन्तु इस समय यह सारे भारतमें फैल गया है। फैला भी इन्ही ७०–८० वर्षके भीतर है। जब व्याधि नई हो तो उसके रूप

स्वभावानुसार चिकित्सा भी उसकी नई होनी चाहिये। वैद्य ज्वर पर दिये अनेक रसोंका यहां उपयोग करते हैं किन्तु, हम देखते हैं कि उन्हें २० प्रतिशत भी सफलता नहीं मिलती। योगरत्नाकरकारने भी कोई उपयोगी औषध इसको नहीं बतलाई। डाक्टर तो इसकी चिकित्सामें वैद्योंसे भी गये गुजरे हैं। वह भी अनुभव ले रहे हैं, ऐसे ही वैद्य भी। किन्तु इन दोनों चिकित्सकोंसे भिन्न कुछ ऐसे ग्रामीण चिकित्सक भी हैं जो इस ज्वरमें साधारण चीजोंका उपयोग करते हैं। हमने देखा है कि उनकी चिकित्सासे प्रतिशत ७०–७५ रोगियोंको आराम आता है। उनकी चिकित्साका पता कई वैद्योंको भी लग गया है जो वैद्य उन वस्तुओंका उपयोग करने लगे हैं। उनके अनुभवमें आया है कि यह चीजें वास्तवमें लाभदायी हैं। मन्थरज्वरकी ऐसी कुछ औषधियोंका धीरे २ सारे पंजाबके वैद्योंमें प्रचार हो चला है।

इन नई औषधियोंके उपयोगसे अब कई वैद्य मन्थरज्वरकी इतनी सफल चिकित्सा करने लगे हैं कि इन वैद्योंके हाथों बहुत कम रोगी मरते हैं। यह अनुभव एक दूसरेकी सहायता द्वारा धीरे-धीरे वैद्योंको हुआ। अब आकर यह बात सिद्धान्ततः वैद्योंकी समझमें आई है कि इस रोगमें शीतवीर्य औषध हानिकर है। इसमें उष्णवीर्य, शोथहर, विषविलोमक औषध लाभकारी हैं। वह कौन-कौन औषध इन गुणोंसे युक्त हैं? इस बातका भी अब अच्छी तरह बोध

हो चुका है। मन्थरज्वर यदि पुराना रोग होता तो इसका निदान ग्रन्थोंमें मिलता तथा इसकी विशेष चिकित्सा भी दी जाती। पर यह दोनों बातें ग्रन्थोंमें नहीं पाई जातीं। ऐसी दशामें प्राचीन रस, भस्म संसारके समस्त नव्य रोगों पर अपना काम नहीं दे सकते, जबतक वह इस स्थितिके अनुसार समझ कर बनाये न जायँ। आजसे १५ वर्ष पहिले अमृतसरमें मन्थरज्वर पर वैद्योंमें काफी विचार चला था। अनेक वैद्य इस बात के पक्षमें थे कि यह ज्वर सन्ततज्वरके भेदमेंसे है, सन्ततकी ज्वर-काल-मर्यादा १२ दिनकी कही है किन्तु यह ज्वर २१ दिनसे पहिले नहीं उतरता। इस अवधिके साथ सन्ततकी अवधिका कोई मेल नहीं खाता। इसमें ७ दिनके बाद ग्रीवा पर मुक्तावत् दाने निकलते हैं, सन्ततमें नहीं निकलते। इस भिन्नताको देखते हुये भी वैद्योंने इसकी अवधि तथा मुक्तादानोंका कोई महत्त्व नहीं समझा था। अनेकोंने इसे भी विषमज्वरके अन्तर्गत माना। किन्तु, चिकित्साका जब समय आया और उन्होंने विषमज्वर मानकर पित्तप्रधान-नाशक चिकित्सा द्वारा जब इसकी चिकित्सा की तो परिणाम बुरा मिला। इसी तरह जिन डाक्टरोंने मलेरियाज्वर समझकर कुनाइन मिश्रित औषध दी उसीसे रोगी पर बुरा प्रभाव हुआ, रोग घटनेकी अपेक्षा बढ़ता देखा गया। इसीसे डाक्टर अब पञ्जाबमें मन्थरज्वर पर कुनाइन मिश्रित औषध नहीं देते। विस्तारके साथ इन

बातोंके वर्णनका अभिप्राय यही है कि वैद्योंको समयकी स्थितिको देखकर उसपर विचार करना चाहिये और जो रोग नये हों उन्हें आजसे दो सहस्र वर्षके रोगके अन्तर्गत करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इस प्रयत्नसे उन्हें कोई लाभ न होगा, प्रत्युत ऐसा करके वह चिकित्सानुभव-पथ को बन्द कर लेते हैं। वह किसी नये रोगको पुराने रोगके अन्तर्गत करके उसकी उस निर्द्धारित चिकित्सासे चिकित्सा करने लगते हैं, जिसका परिणाम लाभदायी सिद्ध नहीं होता।

साधारण ज्वरों पर विचार

आयुर्वेदमें कुछ ऐसे ज्वरोंका उल्लेख पाया जाता है जिन्हें आगन्तुक, अकस्मात् बिना दोष-प्रकोपके आनेवाला कहा है। आगन्तुकके चार भेद किये हैं—(१) अभिघातज, (२) अभिषङ्गज, (३) अभिचारज और (४) अभिशापज।

अभिघातज—अभिघातका अर्थ है चोट लगना, जलना, बिजलीका करण्ट लगना और तलवार, भाला, काँटा आदि लगना। प्रायः जब चोट लगती है और मांसाभिघात होता है, क्षत हो जाता है, उस स्थितिमें यदि कोई जैवी कारण न पहुँचे तो, चोट चाहे कितनी भी भारी लगी हो, ज्वर प्रायः नहीं होता। ज्वर होता ही उस समय है, जब कोई पूयोत्पादक, शोथोत्पादक, विषोत्पादक

जैव इस क्षतमें प्रवेश कर जाते हैं। कभी-कभी गहरे क्षत होने पर और अधिक जल जाने पर ज्वर हो जाता है, इसका कारण यही होता है कि कुछ देरके लिये उत्ताप-नियन्त्रक केन्द्र विक्षुब्ध हो उठता है। ऐसे ज्वर बहुत ही मन्द होते हैं। किन्तु जिस क्षतमें जैवोंका प्रवेश हो जाय, क्षतस्थानमें वेदना, शोथ, पूय उत्पन्न हो जाय उस समय समझ लो कि इसके भीतर जैवोंका प्रवेश हो चुका है, तभी यह उपद्रव बढ़ रहे हैं। ज्ञात होता है, पूर्वकालमें अभिघातजज्वर अधिक मात्रामें होता था। इसका प्रधान कारण यही था कि उस समय इस रहस्यका ज्ञान न हो सका था कि क्षतमें कोई ऐसे भी कारण होते हैं जो क्षत होने पर आ जाते हैं जो क्षतकारी पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इस समय क्षतशोधन, जैवरोधन और जैवविनाशनकी उत्तम विधियोंका ज्ञान हो चुका है, इसीलिये उक्त संरक्षणके आधिक्यसे अब १०० में से १० रोगियोंको भी अभिघातजज्वर नहीं होता। इसलिये इसकी अब ज्वर-निदानमें कोई आवश्यकता नहीं रही। इसको यहाँसे हटाकर तो अवशल्य-निदानमें रख दिया गया है।

अभिषङ्गज—अभिषङ्गज कहते हैं ज्ञानेन्द्रियउत्तेज्य, मानस-विचारजन्य रोगोंको—जैसे शोकज्वर, कामज्वर, भयज्वर, दुर्गन्धज्वर, विपाक्तगैसज्वर, वनस्पतिगन्धज्वर और सर्पदंश विष आदि। भय, शोक, चिन्ता आदि मानसिक क्लेशोंसे भी ज्वर हो जाता है, क्योंकि इन कारणोंसे उत्ताप

नियन्त्रक केन्द्र एकाएक विक्षुब्ध हो उठता है और कई बार देखा गया है कि ऐसी विक्षुब्धतासे रोगीका हृदयावसाद हो प्राणान्त हो जाता है, कई लोगोंको महीनों ज्वर या अन्य कष्ट बने रहते हैं। इसी तरह कई बार विषैली गैसोंके सूंघनेसे या विषैली वानस्पतिक गन्ध या अन्य तीव्र गन्धसे ज्वर हो जाता है। इसमें भी वही कारण विद्यमान होता है जो ऊपर कहा है, किन्तु ऐसे ज्वर प्रायः भयंकर नहीं होते। इनका उल्लेख हम उत्तरार्द्धके अन्तमें देंगे। कुछ विद्वानोंके विचार हैं कि जैव-जनित (जीवाणु, कीटाणु-जनित) रोग भी अभिषङ्गज माने जाने चाहिये। इसी आधार पर श्रीयुक्त कवि-राज गणनाथसेनजीने 'सिद्धान्तनिदानम्' में विप्रकृष्ट-कारणी-भूत जैवी रोगोंको अभिषङ्गज रोग मानकर इन्हें इसीके अन्तर्गत किया है। हम आपके इस विचारसे सहमत नहीं। अभिषङ्गज रोगोमें औपसर्गिक रोगोंको नहीं मिलाना चाहिये। अभिषङ्गकी सीमामें औपसर्गिक रोग नहीं आ सकते। अभिषङ्गज रोग साधारण रोग हैं और औपसर्गिक रोग विशेष रोग हैं। अभिषङ्गज साधारण लक्षण रखते हैं और औपसर्गिक रोग विशेष २ लक्षणोंसे समन्वित देखे जाते हैं। आपका यह कहना है कि नानाविधि स्थावर, जंगम विषोंमें जीवाणु-जनित विषोंको तथा जीवाणुओंको सम्मिलित समझना चाहिये। मेरे तुच्छ विचारमें इनकी संगति नहीं बैठती। यदि चरकजीके समयमें जनपद विध्वंसनीय

रोगोंके वास्तविक कारणका बोध नहीं हो सका था इसीसे उन्होंने देश, जल, वायु, अधर्म व देवप्रकोप आदि अनेक कारणोंको एकत्र कर इन रोगोंका कारण मान लिया था, तो अब—जब कि वास्तविकताका पता चल गया है—वैसा कारण कोई बुद्धिमान् और विचारवान् तो माननेके लिये तैयार न होगा। हाँ, दकियानूसियोंकी बात नहीं कही जा सकती।

अभिचारज—मोहन, मारण टोना, टोटका, मन्त्र आदि द्वारा बीमार कर देनेका नाम अभिचारज रोग है। इस तरहके रोगोत्पादक कारणों पर वैद्योंका ही नहीं प्रत्युत जनताका भी विश्वास उठता चला जा रहा है। हाँ, मन्त्रके बहाने धोकेसे विष खिला देना और बात है।

अभिशापज—पहले यह विश्वास था कि बड़े-बूढ़े, महात्मा, यति, सती पुरुष जो मुँहसे निकाल दें वह सच हो जाता है, यदि किसीको शाप दे दें तो वह लग जाता है। इस तरह क्रोधमें कहे वाक्यसे जो कष्ट पूर्वकालके पुरुषोंको होते थे उन्हें अभिशापज रोग कहा है। किन्तु इस समय ऐसे न तो महापुरुष दिखाई देते हैं न उनके प्रकोपजन्य रोग। इनका वर्णन व विचार अब समयके प्रतिकूल है।

———०———

ज्वर-मीमांसा

उत्तरार्द्ध

रोगोंका मूल कारण

यह कहावत है कि पुराना बीमार आधा हकीम हो जाता है, यह है भी सच। क्योंकि जब तक वह बीमार रहता है, चिकित्सकोंसे, दवाइयोंसे, पथ्यसे, उसके जीवनका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहता है। दवाइयाँ खाते-खाते और नहीं तो जो रोग उसको होता है, उस रोगका तथा चिकित्सा, पथ्य सम्बन्धी काफी ज्ञान हो जाता है। और कहीं वह स्वयम् चिकित्सक भी हो तो सोनेमें सुगन्ध आ जाती है। वह उस विशेष रोगका कुछ कालमें विशेषज्ञ बन जाता है। रोग और चिकित्साके सम्बन्धमें मनुष्य जितना स्पष्ट अनुभव अपने ऊपर प्राप्त कर सकता है, उतना अन्य मनुष्योंपर नहीं कर सकता। ठीक यही बात मेरे जीवन पर घटी।

जन्मसे ही उदरकी बीमारीने आ घेरा। एक वर्ष का था कि माता भी मुझे अनाथ कर गई। पिताने स्वयम् मुझे पाल न सकनेके कारण मुझे अपने गुरुके पास छोड़ दिया। पिता

चिकित्सक, पिताके गुरू (स्वामी गोपालदासजी) चिकित्सक; मगर जो स्वयम् निर्बल हो उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता, यह सच बात है। जिस उपवनके मध्य गुरुजी रहा करते थे, मच्छरोंके आधिक्यसे प्रतिवर्ष मैं विषमज्वरका आखेट बनता था, किन्तु, उस समय इस बातको कौन जानता था कि विषमज्वरके कारण इन मच्छरोंके पेटमें घुसे होते हैं और उनके काटनेसे ज्वर होता है। १४ वर्षकी अवस्था तक किसी वर्ष भी मैं विषमज्वरके प्रकोपसे नहीं बचा। प्लीहा नाभिसे परे तक सदा बनी रही। यकृत् मेरुदण्डकी ओर बढ़ता गया। जिसे रहनेको जहाँ स्थान मिले वह वहीं रह सकता है न ?

मुझे भी अन्य ग्रन्थोंके बाद चिकित्सा पढ़ाई गई। किन्तु, दैवने यहाँ भी मेरा साथ न दिया। अभी १६ वर्षका ही था कि गुरुजी इस असार संसारको नश्वर समझ छोड़ कर चलते बने।

बस, इनके सङ्गदोषने मुझे गृहस्थ जीवनसे वञ्चित कर दिया। मैंने घर छोड़ दिया। पर, रोगोंने अपने घरको नहीं छोड़ा, मेरे पीछे हाथ धोकर पड़े ही रहे। पहिले तो चिकित्सोंके पाले पड़ता रहा। पर धनहीनका कोई सहायक नहीं बनता। जैसे जैसे होश सँभाला आप ही अपना चिकित्सक बनता-बनता बन गया।

धनी, गृही चाहे समय पर और भूख लगने पर भोजन

करते हों किन्तु निर्धन और भिखारीको कभी समय पर रोटी नसीब नहीं होती। जब मिले तब खाना और वह भी २४ घंटेमें एकबार। और भोजन सुस्वादु और काफी मिल जाय तो ऐसी दशामें यह इच्छा रहती है कि ४८ घंटेका पेटमें रख लिया जाय, तो एक दिन और निश्चिन्त रहेंगे, यह लालसा बनी ही रहती थी। अधिक खानेका क्या परिणाम होता है? यह किसी चिकित्सकसे छिपा नहीं। बस, जब अधिक खाकर बीमार होता तो उसका एक ही सरल उपाय मुझे ज्ञात हो गया था। २-३ गोली घोड़ाचोलीकी खा लेता। रेचन आते और कष्टसे कुछ न कुछ मुक्ति मिल जाती थी। उस समय घोड़ाचोली मानो मेरे दामनकी चोली बन गई थी। पर कुछ समयके पश्चात् वारुणीवत् यह चोली मेरे जीवनको खाने लगी। जब इसे सेवन करता, शरीरमें चिनगारियाँ सी फूटने लगतीं, कानसे सुनाई देना बन्द हो जाता और कान साँ-साँ करने लगते।

कहाँ मैं खन्दकसे बचनेकी चेष्टामें दवाइयों ओर चला था कि खाईसे घिर गया। धीरे २ जैपाल मिश्रित औषध मेरे लिये इतनी असह्य हो गई कि यदि जैपालके दानोंको हाथसे स्पर्श कर लूँ तो उक्त कष्टका अनुभव होने लग जाता था। धीरे २ हर एक साधारण रेचक द्रव्यका मेरे शरीर पर जैपाल जैसा ही हानिकर प्रभाव पड़ने लगा। और इस कष्टने मेरे कष्टमय जीवनकी सहायक इन औषधियोंसे मुझे

हठात् वंचित कर दिया। पाठको! दुःखों, कष्टोंमें औष-धियाँ ही प्राण-रक्षा करती हैं। जब औषधियाँ ही सहायक न हों तो उस प्राणीकी दशा मरुभूमिमें खड़े अनाथकी दशासे क्या कम करुणाजनक होती है?

धीरे-धीरे मेरी आर्थिक स्थितिमें अन्तर पड़ने लग पड़ा था। चिकित्सा करते २ कई रोगोंकी चिकित्सामें काफी सफलता प्राप्त करने लगा। परिणामतः जीवन-निर्वाह अच्छा होने लगा। इसीसे अब भोजन भी इच्छानुकूल और समय पर खाने लगा।

उस समय मैंने अपना भोजन व्यवस्थित व सुपाच्य खानेकी चेष्टा की। ताजे फलोंसे अधिक मुझे कोई सुपाच्य वस्तु न मिली। तीन वर्ष तक केवल मात्र ताजे फलों पर ही रहा। इसका परिणाम बहुत अच्छा मिला। प्लीहा घटते-घटते अपने पूर्व स्थान पर आ गई। उदर-विकार धीरे-धीरे रफ्फू-चक्कर हो गये। स्वास्थ्यको मैंने एकबार फिर नये सिरेसे पाया।

आयुर्वेदका अध्ययन करनेके कारण त्रिदोष-सिद्धान्त पर विश्वास था। साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक व एलोपैथिक चिकित्साके सिद्धान्तोंका भी मनन करता रहा। इन समयोंमें मुझे अपने ऊपर दोषकी स्थितिको समझनेका काफी अवसर मिला। आहार बदल देने पर और कभी-कभी लंघन करते रहने पर जब मेरा स्वास्थ्य सुधरा तो इस बात पर विचार करनेका अवसर हाथ आया कि मुझे कष्ट खान-पानसे ही

सीधे उत्पन्न होते हैं या इस खान-पानसे दोषोंका प्रकोप होकर फिर वे उत्पन्न होते हैं। इस बातको समझनेके लिये कहीं दूर नहीं जाना था। मैंने अपने भीतर इस बातको समझनेकी चेष्टा की। मैं प्रत्यक्ष प्रायोगिक बातों पर अधिक विश्वास करता था और अब तो और भी अधिक करता हूँ। इसलिये, भोजन-परिपाक क्रियाको तथा उसके परिणामको अच्छी तरह अध्ययन और अनुशीलन करनेमें अपनेको तल्लीन किया। साथमें, यह अनुभव अपने पर ही नहीं, प्रत्युत अपने रोगियों पर भी साथ-साथ लेता रहा। लगभग १० वर्षके अनुभवसे यह सिद्ध हुआ कि हम जो कुछ भोजन करते हैं, यदि भोजनमें भिन्न भिन्न पाचक रस ठीक मात्रामें मिलते रहें और भोजनीय द्रव्य मात्रासे अधिक न खाये जायँ तो ऐसा भोजन बिना शरीरको शिथिल व भारी किये आसानीसे पच जाता है। ऐसे भोजनसे न तो पेट भारी होता है न शरीरमें आलस्य आता है और न निद्रा, तृषा आदि उपद्रव ही अधिक सताते हैं। यदि भोजनके पाचनकी स्थिति बिलकुल ठीक हो तो भोजनीय द्रव्य १८–१९ घंटे तक पूर्णतया पच जाता है और जो अवशेष बचता है वह इस समय तक डुण्डभि स्थानमें पहुँच जाता है, जो मल-निस्सारणी पेशी द्वारा बाहर कर दिया जाता है।

यदि भोजन गरिष्ठ हो, अधिक मात्रामें खाया गया हो, उसमें उचित मात्रामें पाचक रस न मिलें, या भोजन चाहे

गरिष्ठ न हो किन्तु चिन्ता, भय, शोककी स्थितिमें खाया गया हो या जल्दी-जल्दी बिना चबाये ही खाया गया हो, जिसमें रसोंका मिश्रण अच्छी तरह न हुआ हो तो ऐसे भोजनके पेटमें पहुँचनेपर पेट भारी हो जाता है, तृषा ज्यादा लगती है, आलस्य ज्यादा आता है और प्रायः लेट जानेको जी करता है। उस भोजनसे प्रायः पेटमें दर्दका भय होता है। १०० मेंसे ५० को दर्द अवश्य होता है। कइयोंको दर्द नहीं होता, उनके पेटमें गैसें बनती हैं, डकार आते हैं। अनुभवने यह बतलाया कि खाद्य-द्रव्योंमें पाचक रसोंके ठीक-ठीक न मिलनेसे जो उसमें उचित रसायनिक परिवर्त्तन आना चाहिये वह नहीं आता। पाचक रसोंकी न्यूनता या कभी उसके पतलेपन आदि कारणोंसे ही उस भुक्त अंशमें अन्य प्रकारका सन्धान उठ खड़ा होता है जिससे भुक्त रसकी मात्रा जैसी बननी चाहिये नहीं बनती। ऐसी स्थितिमें वहाँ पर कई प्रकारके वायवीय पदार्थोंका सञ्जनन होता है। जैसे मलिनताके ढेरमेंसे गन्धपूर्ण गैसें निकलती हैं, ठीक इसी तरह उदरदरीसे वह गन्धपूर्ण गैसें बन-बन कर अधोमार्गसे सरती रहती हैं, इनका नाम इण्डोल अमोनिया गन्ध आदि है। इसमें किसी वातदोषका सम्पर्क नहीं होता। आध्मान, गुड़गुड़ाहट इन्हीं गैसोंके बननेसे उठते हैं। गैसोंको वातदोष मानना भूल है। तृषा भी तभी अधिक लगती है जब भुक्त द्रव्यमें अयोग्य सन्धान होता है।

ज्ञात हुआ है कि शरीरमें जलकी मात्रा जो विद्यमान होती है, वह किसी अन्य यौगिकमें बदलने लग जाती है। जलके कण टूट जाते हैं तभी शरीरको जलकी आवश्यकता होती है। इस तरहके अपच्चयसे अजीर्ण होता है और अजीर्णसे आम बनता है। भुक्त द्रव्यका अवशिष्ट अंश जो उदरदरीमें रुक जाता है, वह एक प्रकारका आम है। आमके कई रसायनिक रूप होते हैं जिनसे भिन्न-भिन्न प्रकारके भिन्न-भिन्न रूपवाले कष्टोंका प्रादुर्भाव होता है। अग्निमान्द्य, अम्लपित्त, प्रतिश्याय, अतिसार, ज्वर आदि उपद्रवोंके रूपमें शरीर उस सञ्चित दोषको दूर करनेकी चेष्टा करता है, जिसे हम रोगका नाम देते हैं। ऐसी स्थितिमें मैंने अनुभव किया कि साधारण मल सरण कराकर लघन कराया जाय तो उस आमका पचन हो जाता है और शरीर पुनः एक दो दिनमें अपनी पूर्व स्थिति पर आ जाता है। इस तरह हजारों बार अनुभव लेने पर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि आहारका जब पचन ठीक नहीं होता तो उससे रस ठीक नहीं बनता। उस आहारका जो कुछ बनता है, शास्त्र-सम्मतिसे आम कहाता है। हमारे यहाँ जो यह लिखा है कि 'जलाधिक्या-न्मनुष्याणां आमवृद्धिः प्रजायते' यहाँ जलाधिक्यके स्थान पर अन्नाधिक्य होना चाहिये था और 'अजीर्णेन ज्वरोत्पत्तिः' तो ठीक ही है, क्योंकि अजीर्णसे जो दूषित पदार्थ उत्पन्न होता है वही साधारण ज्वरका कारण होता है। हमारे

ग्रन्थोंने "उदरं व्याधि-मन्दिरम्" का जो सिद्धान्त दिया है, मेरा अनुभव इस सिद्धान्तकी पूर्ण पुष्टि करता है। मैंने अपने ऊपर यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया है कि जितने भी साधारण रोग हैं, जैसे—अग्निमान्द्य, अतिसार, विष्टब्धता, उदरशूल, आध्मान, दाह, तृषा शिरःशूल, प्रतिश्याय, कास, सर्वांगपीड़ा आदि, यह सबके सब उस समय उत्पन्न होते हैं जब पचन दोष उत्पन्न हो रहा हो, भुक्त द्रव्य अपाच्य बने रहे, तब उस अपाच्यकालमें जो भी अयोग्य, अग्राह्य पदार्थ प्रादुर्भूत होते हैं, शरीर उन्हें रोगोंके रूपमें प्रकट कर बाहर निकालनेकी चेष्टा करने लगता है। उस समय लंघन करनेसे उन मलोंको निकालनेके लिये शरीरको पूर्ण अवसर मिलता है। हमारे यहाँ भी तो यह सिद्धान्त है कि "ज्वरादौ लंघनं कुर्यात्" ज्वरके आदिमें लंघन देना चाहिये, जब यह शास्त्रसम्मत बात है तो इसमें मेरा अपना मत कुछ न समझें, बल्कि शास्त्रका इसे क्रियात्मक अनुमोदन मानें। इस तरह लंघन और शरीर संशोधन पद्धतिका बड़े २ रोगोंके समय अनुभव लेते रहने पर मैं इस परिणाम पर पहुँच चुका हूँ कि इनमें जो दोष उत्पन्न होते हैं उनमेंसे गैसोंको चाहे वात कह लिया जाय, पर वास्तवमें उन्हें शास्त्रीय वात माना नहीं जा सकता। इसी तरह अपच्य दोषके समय पित्ताशयसे उस अपच्य भोजन को पचानेके निमित्त पित्तद्रवका

आना और उसके बढ़ जाने पर उदरमें अम्लत्वकी मात्राका बढ़ना पित्त प्रकोप नहीं माना जा सकता। पित्त तो एक पाचक रस है, जो स्नेही पदार्थोंमें मिलकर उसका कांदव बनाता है और उसे शरीरके सात्म्यीकरण योग्य करता है, तथा अयोग्य, अहितकर, उदरस्थ सन्धानोंको रोकता है। यदि यही पाचक रस पचनकी अव्यवस्था होने पर अधिक आ जाय और भुक्त द्रव्यमें न मिले, जैसे कई दफा यह आमाशय तकमें चढ़ आता है, तो अम्लपित्तका कष्ट होता है। इससे भिन्न वह कहीं अन्त्राशयमें जाकर उसकी दीवारोंको स्पर्श करे तो पेटमें दाह होता है। इसे पित्त दोष नहीं माना जा सकता। इसी तरह जब एक ओर अपच्य दोष बना रहे और दूसरी ओर अधिक भोजनसे रस बनता रहे तो रक्तस्थ रसका शरीरमें ठीक समय पर सात्म्यीकरण नहीं होता। उसकी मात्रा अधिक बढ़ जाती है, ऐसी दशामें रक्तस्थ रस व लसीकामें भी अयोग्य सन्धान प्रक्रिया चल पड़ती है। उस स्थितिमें यदि उदरमें अपच्य दोष बढ़ जाय या बना रहे तो शरीरके खोखले मार्गकी श्लैष्मिककला जो श्लेष्मरूप आहार रसका सात्म्यीकरण करती है वह फिर अयोग्य सन्धानकी स्थितिमें विक्षुब्ध हो उठती है। उसमें कई स्थानों पर प्रदहन हो उठता है। जहाँ-जहाँ प्रदहन हो वहाँ-वहाँ श्लिष्टरसका पचन नहीं होता। आये हुए उस श्लिष्ट-रसको यहाँकी वह श्लेष्मकला बाहर निकालने लगती है,

जिसे हम श्लेष्मका नाम देते हैं। मल मार्गसे यदि यह निकले तो इसे आम कहते हैं। आम और श्लेष्म एक ही वस्तुके दो रूप हैं। किन्तु जलाधिक्यके आमसे यह भिन्न है और यह निकलता या बनता उस समय है जब श्लेष्मकला प्रदाहित होती है।

श्लेष्म वास्तवमें एक प्रकारका अस्नजिन (प्रोटान) है। इसका रासायनिक विश्लेषण बहुत बार किया गया है। अग्नि पर डालो तो जलने पर मासकी गन्ध देता है। यह धातुरसके अस्नजिनसे श्लैष्मिक कलाओंमें आकर श्लिष्ट-रसमें बदलकर सात्म्यीकृत होता है। जब कलामें प्रदहनके कारण शिलष्टरसका सात्म्यीकरण न हो, वहाँसे बहिष्कृत किया जाय तो कलाकी विकृति व स्थितिके अनुसार गाढ़ा या पतला श्लेष्मरूप होकर बाहर आता है। इसकी उत्पत्तिका कारण भी वही अपथ्य दोष देखा गया है। जब शरीरमें ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई, जहाँ किसी व्यक्तिको जुकाम, खाँसी, श्लेष्माधिकताका प्रकोप दिखाई दिया उसे लंघन और मलसरण कराया गया तो कोष्ठके ठीक होते ही सारे शरीरकी स्थिति ठीक हो गई। यह अनुभव भी हजारों व्यक्तियों पर लिया गया और परिणाम बहुत ही सन्तोषप्रद मिले।

अब तो मेरा यह सिद्धमन्त्रवत् सिद्धान्त बन चुका है कि ऐसी स्थितिमें अवश्य लङ्घन या अति लघुपाकी सूक्ष्माहार देता हूँ और मैं अमृतसरमें इस बातके लिये

ख्याति प्राप्त कर चुका हूँ कि कोई रोगी मेरे पास चिकित्साके लिये आनेवाला हो तो उसे पहिले परिवारवाले ही बता देते हैं कि जहाँ चिकित्साके लिये जा रहे हो वह लङ्घन कराते हैं, भूखे मारते हैं। यदि भूखे रहना हो तो वहाँ जाओ वरना, वहाँ चिकित्साके लिये मत जाना।

जबसे मैंने इस तत्त्वको समझा कि वास्तवमें उदर ही व्याधियोंका घर है, समस्त बीमारियों व दोषोंका उत्थान अपच्य दोष, अजीर्ण दोषके बाद ही होता है, तबसे मैं जैवी व्याधियोंके सम्बन्धमें यह जाननेका प्रयत्न करने लगा कि इन जैवोंका प्रकोप शरीरकी किस स्थितिमें अधिकतर होता है और शरीरमें जीवाणु-कीटाणु कब अधिक वृद्धि पाते हैं।

फुफ्फुस-प्रदाहीज्वर, मन्थरज्वर, प्रसूताज्वर आदि जैवी रोगोंके रोगियोंको देखने तथा चिकित्सा करनेका काफी अवसर मिलता रहता है। मैंने प्रायः देखा है कि जैवी रोगोंका ज्ञान होते ही आरम्भसे यदि लंघन कराया जाय और साथमें शरीरका शोधन भी होता रहे तो रोग कितना ही बलशाली क्यों न हो उसकी शक्ति घट जाती है। दूसरे, रोगी को लंघनयुक्त रक्खा जाय तो कभी उपद्रव नहीं बढ़ते, बढ़े हुए उपद्रव भी घटते चले जाते हैं।

भयंकर ज्वरोंकी स्थितिमें यदि पूर्ण लंघन कराया जाय और साथ-साथ संशोधन, मल-निस्सारण होता रहे तो

रोगके जल्दी दब जानेकी सम्भावना होती है। ज्वर अधिक नहीं बढ़ता। रोगीका कोई दूत आकर जब यह कहता है कि ज्वर बढ़ गया, खाँसी बढ़ गई, अफारा हो गया आदि २ तो मैं बिना किसी झिझकके कह देता हूँ कि रोगी ने कुछ अवश्य खा लिया है या उसे खिलाया गया है। १०० में से ९९ वें बार मेरा यह कथन सत्य सिद्ध होता है। उपद्रव बढ़ते ही तब हैं जब उन्हे बढ़ानेका साधन बाहरसे जुटाया जाय। भोजन, अन्न, दुग्ध आदि पदार्थ देना साधन जुटाना है। मैं तो जन्मजात बालकको माताका दूध कई-कई दिन छुड़ा देता हूँ, केवल जलाधार पर रखता हूँ, परिणाम कभी बुरा नहीं मिला। एक बार एक अर्द्धांग रोगीको ४५ दिनका पूर्ण लंघन कराया और ४६ वें दिन उस अर्ध अंगमें एकाएक गति उत्पन्न हो गई और रोगी बड़ी जल्दी राजी हो गया।

मुझे यह लंघन, शोधन पद्धति इतनी अधिक लाभदायी सिद्ध हुई है कि भयंकरसे भयंकर रोगियोंकी चिकित्सामें कभी मुझे रात्रिको उठ कर रोगी देखने जाना नहीं पड़ता। उपद्रव बढ़नेकी कभी शंका ही नहीं होती। लंघन व शरीर संशोधन पद्धति इतने ही अंशमें लाभदाई नहीं, प्रत्युत मैं यह भी देखता हूँ कि ऐसे व्यक्तिके लिये अधिक औषधियोंके योजनाकी जरूरत नहीं रहती, दूसरे अपेक्षाकृत जल्दी राजी हो जाता है।

फिर मैंने यह भी अनेक बार देखा है कि शरीर शुद्ध ो, उदरमें किसी प्रकारका मल संचित न हुआ हो, तो कोई रोगकारक जैव शरीरमें प्रवेश भी कर जाय जैसा कि होता है—तो शरीर उस स्थितिमें इतना सूक्ष्म होता है कि वह एक क्षण भी जीवित नहीं रहते, शरीरमें घुसते ही मार डाले जाते हैं। यह अच्छी तरह देखा व समझा जा चुका है कि शरीर विशुद्ध हो तो राजयक्ष्मा, प्लेग, विसूचिका, शीर्षमण्डलावरणप्रदाह, मन्थरज्वर आदि कितने ही भयंकर मारक रोगोंके जीवाणु, कीटाणुओंका शरीरमें प्रवेश क्यों न हो रहा हो उस शरीरमें रोग उत्पन्न नहीं होते। यह मै बता चुका हूँ कि जिन व्यक्तियोंका आमाशय मिथ्या आहार-विहारसे दूषित बना रहता है उन्हीं व्यक्तियों पर प्रायः उक्त संचारी व्याधियोंका अधिक आक्रमण होता है। जिन व्यक्तियोंका कोष्ठ और शरीर दूषित पदार्थोंसे प्रायः रहित—शुद्ध होता है, उनके जैवी व्याधियां यदि हो भो जायँ तो वहुत निर्बल होती हैं। पूर्ण शुद्ध शरीर पर कोई भी जैव प्रवेश कराया जाय उसकी वृद्धि शरीरमें जाकर होनी सम्भव नहीं। वह शरीरके भीतर प्रवेश पाते ही मार डाला जाता है। जब शरीर शुद्ध हो उस समय शरीरकी क्षमता शक्ति अत्यन्त बलवान् होती है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक सजीव कोष पूर्ण कार्यक्षम होते हैं। उस पर किसी अयोग्य, व्यर्थके पदार्थका दबाव नहीं होता, इसीलिये आगत

शत्रुका साम्मुख्य वह बड़ी दृढ़ता व साहसके साथ लेते हैं और जैवोंको शरीरमें स्थिर होने, अपने केन्द्रस्थान तक पहुँचनेका अवसर ही नहीं देते, इसलिये कोई भी व्याधिके कारण उसके शरीरको प्रभावित करनेमें असमर्थ रहते हैं। इसीसे वह मनुष्य इन संचारी व्याधियोंके लपेटमें आनेसे बचा रहता है। इसके विपरीत जिन व्यक्तियोंका शरीर मिथ्या आहार-विहारसे अत्यन्त दूषित बना रहता है, शरीरके धातु व रस दूषित करनेवाले पदार्थ सारे शरीरमें भरे रहते हों, कोष्ठ कभी शुद्ध नहीं होता, ऐसे व्यक्तियोंकी क्षमताशक्ति अत्यन्त निर्बल हो जाती है। उनके शरीरके सजीव कोष दूषित, अयोग्य, अग्राह्य, व्यर्थके पदार्थोंसे घिरे रहते हैं, वह बिचारे उनकी उपस्थितिसे ही व्याकुल होते हैं और उन्हें निकालने हटानेमें ही अक्षम रहते हैं; ऐसे समय कोई अन्य बलवान् कारण यथा—जैवोंका समूह उन तक पहुँच जाय तो शरीर कोषोंके लिए उसका साम्मुख्य लेना असम्भव हो जाता है। एक बात ओर स्मरण रखनेके योग्य है। वह यह कि जो दूषित पदार्थ जैवोंके परम सहायक होते हैं उनसे उन्हें खाद्य सामग्री तथा अन्य सहायक साधन आसानीसे प्राप्त होते रहते हैं। दूसरी ओर उनके शरीरमें भरे रहनेसे सजीव कोष निर्बल, अक्षम हो जाते हैं, इसीलिये जैवोंको रहने व बढ़नेका अच्छा अवसर मिल जाता है, जिससे वह व्यक्ति उस जैवी व्याधियोंका जल्दी आखेट होता है।

ऐसे व्यक्तियों पर रोगका प्रभाव भी बलवान् होता है। हम बतला चुके हैं कि हमें जिस समय इस बातका पता लग जाता है कि इस व्यक्तिको जैवीजन्य ज्वर है तो उसको आरम्भसे ही लंघन[1] रखाया जाता है। लंघन करानेसे दो लाभ होते हैं—एक तो बाहरसे आहार नहीं पहुँचता, इससे उदरस्थ दोषों व पदार्थोंका पचन होने लगता है। दूसरे जब आहार भीतर नहीं जाता तो अमाशयादि अंगोंको कुछ विश्राम मिलता है। आहारका न जाना इसलिये भी लाभप्रद है कि जैवी विकारजन्य ज्वरोंमे पाचक रसोंकी मात्रा प्रायः घट जाती है। जब पाचक रसोंकी मात्रा घट रही हो ऐसी स्थितिमें आहार देना विष देना है। क्योंकि उसको पचाने वाले रसोंका तो बहुत कुछ अभाव है, फिर उसे पचावेगा कौन? ऐसे आहारका परिणाम और भी बुरा होता है। दूषित पदार्थोंकी मात्रा शरीरमें अधिक बढ़ती चली जाती है, इसीसे रोग भी बलवान् बनता चला जाता है, जिसके चिह्न उपद्रवोंकी संख्याके रूपमें बढ़ता दिखाई देता है और रोगी वैद्यके लिये संभालना कठिन होता है। इसमे कोई संशय नहीं कि जैवी कारण वास्तवमें बलवान् कारण हैं, तथापि जब-

---

१ नोट—लंघनमें अन्न, दुग्ध ही वर्ज्य हैं। जल, फल, रस, अत्यन्त सूक्ष्म मात्रामें कभी २ देते रहना लंघनमें ही परिगणित है। "ज्वरादौलंघनं कुर्यात्।"

तक शरीर अक्षम-असमर्थ न हो जैव शरीर पर अधिकार नहीं जमा पाते; वह चाहे शरीरमें कितनी बड़ी संख्यामें प्रवेश क्यों न पाते रहे। इस सिद्धान्तको तो सब विद्वान् मानने लगे हैं कि जिस तरह इस पृथ्वी पर मनुष्य, कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, व्याप्त हो रहे हैं, इसी तरह जल, थल, वायु हर स्थानमें अनेक प्रकारके अनेक जातिके अदृश्य एक कोषी जैव व्याप्त हो रहे हैं। इनकी व्यापकता दृश्य जगत्से बहुत अधिक है। जिस तरह हम भोजनकी तलाशमें देश देशान्तर तक जा पहुँचते हैं यह भी इसी तरह अपने २ आधार (मच्छर, मक्खी, पिस्सू, जूँ, खटमल, धूलकण, जलकण आदि) पर चढ़े फिरा करते हैं। मनुष्य जिस तरह हवासे रहित नहीं हो सकता, इसी तरह इनसे रहित नहीं हो सकता। अनुमान है कि नित्यके खाद्य-पेय व श्वास-प्रश्वास द्वारा सैकड़ों क्या हजारों रोगजनक या अन्य जैव— जो रोगोत्पादक नहीं—दिन-रात अपने अन्दर करता रहता है, पर सब मनुष्य बीमार नहीं होते। इसका कारण यही है जो ऊपर बताया गया है। शरीरकी क्षमता शक्ति जबतक बनी रहती है रोगोंसे शरीर बचा रहता है; जहाँ अक्षम हुआ कि एक नहीं अनेकों शत्रु उसे आ घेरते हैं। निर्बलकी रक्षा संसारमें कोई नहीं करता, न निर्बलताका कोई साथी ही बनता है। प्रकृति भी निर्बलको जब अयोग्य समझती है तभी उसको अपने संरक्षणमें नहीं लेती।

फिर भला बताओ ! कौन उसे ले सकता है। 'अतिबली विजयी भवेत्' का सिद्धान्त संसारमें लागू दिखाई देता है। इसीलिये सबको सक्षम बनकर ही रहनेकी चेष्टा करना चाहिये। रोगोंका मूल कारण शरीरकी अक्षमता ही है। हम जीवाणुओं कीटाणुओंको मूल कारण नहीं मानते। प्रत्युत, शरीरमें उत्पन्न दोषोंसे जो अक्षमता अयोग्यता आती है उसे रोगोंका मूल कारण समझते हैं। हमने इस विषयकी व्याधि मूल विज्ञान नामक पुस्तकमें विस्तारके साथ चर्चा की है। इसीलिये हम इसकी अधिक चर्चा यहाँ नहीं करेंगे।

क्षमता और रोग

यह समझना अब भयङ्कर भूल होगी कि ईश्वरने मनुष्यको इस लम्बे-चौड़े, हाथ-पैर वाले इसी रूपमें जैसा कि यह इस समय दिखाई देता है—सृजा। वास्तवमें मनुष्य, अनन्त सजीव कोष समूह प्राणी है। गर्भमें एक-एक सजीव कोषसे जिस तरह इसके शरीरकी रचना होती है, ठीक इसी तरह विश्वमें सृष्टि रचनाके समय भी इसका एककोषी रूपमें आविर्भाव हुआ था और वहाँसे यह बढ़ता-बढ़ता द्विकोषी, चतुष्कोषी, अष्टकोषी, सोलाकोषी बनता हुआ विकसित होता चला गया। गर्भ विकास उस आदि विकासका उदाहरण है, एक नमूना है, प्रतिरूप है।

अनुमान है, मानव प्राणीने उस एक कोषीय शरीरसे

इस अनन्त कोषी शरीरको स्थिति तक पहुँचनेमें करोड़ों वर्ष लगाये। किन्तु, क्या यह इतनी बड़ी मञ्जिल इसने आसनीसे पार की होगी? हरगिज नहीं, जब हम यहाँ देखते हैं दिन-रात जीवनके लिये मनुष्यको मनुष्यसे; ऋतुकालसे, सर्प, बिच्छू, अन्य हिंसक प्राणियोंसे लोहा लेना पड़ता है। यही नहीं, अदृश्य जगत्के जीवोंसे जो आदि युगके हमारे शत्रु है, उनसे भी भयङ्कर लोहा लेता देखते हैं तो यह मानना पड़ता है कि इसके वह करोड़ों वर्षोंका जीवन महान् सङ्कट-का स्थल बना रहा होगा। अवश्य ही इसे पद-पद पर शत्रुसे, ऋतुकालसे, सजातीयसे, विजातीयसे, सबसे संग्राम लेना पड़ता होगा। किन्तु इसके अन्दर एक क्षमता ही ऐसी चीज थी जिसने इसके अस्तित्वको आजतक बनाये रक्खा। क्षमता शक्तिकी ही बदौलत आज इसका वंश संसारमें जीवित रहकर फल-फूल रहा है। यह क्षमता क्या है और कैसे आती है, मैं कुछ इसकी चर्चा करूँगा।

स्वरक्षा, स्वजाति रक्षा, स्ववंशरक्षा, यह तीनों ही उद्देश्य अपने अस्तित्वको बनाये रखनेके निमित्त हैं। जब हम सन्तानकी रक्षा करते हैं, तब हम अपनी रक्षा करते हैं क्यों? "आत्मावै जायते पुत्रः" सन्तानको अपना रूप समझते हैं और जब हम स्वजाति रक्षाकी ओर बढ़ते हैं तो वहाँ भी हम स्ववंश सम्बन्धकी ही दृष्टि बनाये रखते है। हर स्थितिमें हमारा उद्देश्य अपने अस्तित्वको बनाये

रखनेका होता है। हम खाते, पीते, लड़ते, झगड़ते हैं तो अपने अस्तित्वको बनाये रखनेके निमित्त ही यह सब कुछ करते हैं। किन्तु, अपने अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये हमारे सामने सब तरफसे हमें अनेक बाधाएँ घेरे रहती हैं। शत्रु या विपरीत परिस्थितियाँ सदा ताकमें बैठी रहती हैं कि कब अवसर मिले और कब इसे मारें। इनमें सबसे अधिक प्रथमतः परिस्थितिका सामना करना पड़ता है। खान, पान, ऋतुकालका सदा ही सामना लेना पड़ता है। हम जो कुछ भी खाते हैं, यह तो स्पष्ट है कि वह सबका सब हमारे शरीरमें नहीं खप जाता।

उस खाद्य पेयसे ही मल, मूत्र बनता है। जिसका अर्थ स्पष्ट है कि जितना हम खाते हैं उसका बहुत थोड़ा अंश हमारे उपयोगमें आता है। जो उपयोगमें नहीं आता वह अंश कहीं शरीरके भीतर—निकल जानेके समयसे अधिक देर ठहर जाय—तो शरीरमें कोई न कोई कष्ट प्रकट हो जाता है। उस समय शरीर उन्हें निकालनेकी चेष्टा करता है। इस चेष्टामें मनुष्योंसे पशुओंमें अधिक क्षमता पाई जाती है। पशु जब रुक जाते हैं या बीमार हो जाते हैं तो वह प्रायः आहार छोड़ देते हैं, जबतक ठीक न हो जायँ कुछ नहीं खाते। उस समय उनके भीतर उस कष्ट निरोधकी क्षमता ही होती है जो उन्हें बचाती है। मनुष्योंके भीतर भी वह है, किन्तु इसे कृत्रिम साधनों (औषधियों) का

अधिक आश्रय मिल गया है, इसीलिये यह प्राय: प्राकृतिक साधनोंकी उपेक्षा करता चला आ रहा है। जिसका परिणाम यह होता जा रहा है कि इसकी यह क्षमताशक्ति घट रही है। वास्तवमें यह शरीरको अपनी शक्तिके उपयोगका अवसर ही नहीं देता, चट चिकित्सकका आश्रय लेता है। इसीलिये साधारण रोग प्राय: बढ़ गये हैं। गाँवोंमें अब भी साधारण रोगोंकी संख्या कम है, शहरोंमें बहुत अधिक है, क्योंकि यहाँ खान-पानकी वस्तुओंका बाहुल्य है, फिर एक-एक चीज बीसों प्रकारसे बनाकर भोजनमें परोसी जाती है, जिनके खानेका यह इतना अभ्यासी हो गया है कि रोग-कालकी स्थितिमें भी उसे छोड़ नहीं सकता। इसीलिये स्वस्थ रहनेकी अपेक्षा खा खाकर अधिक रोगी बना रहता है।

यही बात ऋतुकालके सम्बन्धमें घटती है। पशु, पक्षी शीतकालमें बिना वस्त्रके ही शीतकाल काटते हैं। वह शीतमें रहते-रहते उसके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उनके अन्दर इतनी क्षमता आ जाती है कि सख्तसे सख्त सर्दी सहन कर लेते हैं, इसी प्रकार गर्मीको भी। पर मनुष्य जबसे वस्त्राच्छादित हुआ और शीतलोपचारके कृत्रिम साधन संग्रह करनेमें समर्थ हुआ, इसकी इस क्षमतामें भी कमी आ गई है। ग्रामीण अब भी शहरियोंकी अपेक्षा सर्दी, गर्मी-की शक्तिको अधिक सहन कर सकते हैं।

ओजीयक्षमता—एक बात और महत्त्वकी ज्ञात हुई है—

शरीरमें जितनी भी क्षमता शक्ति आती है और आकर बनी रहती है वह शरीरके ओज पर निर्भर है। जिस प्राणीमें ओजकी मात्रा सङ्कुचित रहती है, उसके भीतर क्षमताशक्ति भी पूर्ण क्षीण पाई जाती है। इसकी कमीसे क्षमतामें भी कमी पड़ जाती है। ओज क्या है? इस प्रसंगवश संक्षेपमें इसका उल्लेख करेंगे।

हमारे यहाँ इसका स्पष्ट वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु ग्रन्थों द्वारा ज्ञात होता है कि ओज धातुओंका सारभूत पदार्थ है और बतलाया गया है कि शरीरमें कान्ति, आभा, प्रभा, बल, बुद्धि सब उसके कारण आती है।

इस समय शरीर धर्मशास्त्रके अनुसन्धानसे ज्ञात हुआ है कि शरीरमें कुछ प्रणालीविहीन ग्रन्थियाँ—जैसे त्रिपुटी (पिटुइटरी), चुल्लिका, उपवृक्क आदि तथा प्रणालीयुक्त पृणी. मेदन मूलीया, वृषण आदि ग्रन्थियोंके रस—जो सीधे अपने जनन स्थानसे उत्पन्न होकर रक्त रसमें सात्म्यस्थ होते रहते हैं, यदि यह समस्त रस उचित मात्रामें संजनित होकर रक्तरसमें संमिश्रित होते रहें तो इन सबके ठीक संमिश्रणसे एक ऐसी वस्तुका प्रादुर्भाव होता है, जिसको हम ओजका नाम देते हैं और पाश्चात्य विद्वान उसे हारमोन्स (Harmons) कहते हैं। इसका लगातार रक्त-रसमें सन्तुलन बना रहे तो इससे शरीरमें उल्लास, उत्साह, कान्ति, सौवर्ण, बुद्धि, विचार इत्यादिका विकास होता है। शरीरमें

क्षमताशक्ति बढ़ती है। भोजन-पाचन व्यवस्था, रक्त संचारकी व्यवस्था तथा अन्य शारीरिक अवयवोंके कार्यकी व्यवस्था बहुत ही उत्तमतासे सम्पादित होती रहती है, शरीर खूब नीरोग रहता है, साधारण बाधाएँ या कष्ट शारीरिक क्षमताके सामने नहीं ठहरते। किन्तु इनकी कमीमें विपरीत प्रभाव देखा जाता है। खाली पूगीग्रन्थि, मेहन मूलग्रन्थि, तथा वृषणके रसों पर काफी परीक्षण हुए हैं। वृषणमें दो प्रकारका रस बनता है। एक वीर्यमय, दूसरा मदमय; वीर्यमय रससे वीर्यके कीटाणुओंकी वृद्धि होती है, मदमय रस रक्तमें मिलकर मानसिक उत्तेजनाका कारण होता है तथा वही ओजोत्पत्तिमें भी कारणीभूत है। इसी तरह उक्त पूगीग्रन्थि रस जिसे यूनानीवाले मज़ी कहते हैं, हम उसे मदनरस कह सकते हैं, यह तथा मेहन मूलग्रन्थि रस दोनों यदि उत्तेजनावश चालित न किये जायँ, तो यह रक्त रसमें तन्मय होकर ओजोत्पत्तिमें परम सहायक होते हैं। देखा गया है कि जब मनुष्य युवावस्थाको प्राप्त होता है, उस समय जब-जब उत्तेजना होती है और वह उत्तेजना काफी समय तक बनी रहती है तो उसके कारण मदनरस और मदरस तथा मेहन मूलग्रन्थि रस मिलकर स्रवित होते रहते हैं। मेहन शिथिलताके पश्चात् लहेसयुक्त यही रस टपकते हैं तथा मूत्र करनेके पश्चात् भी यही लालावत् आते हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक उत्तेजित रहता है, उतना

ही अधिक इनका स्राव होता है। इनकी कमीके कारण रक्तमें ओजोत्पादक रसोंका संतुलन नहीं रहता। इसीलिये ओजोत्पत्ति नहीं होती। तभी शरीर क्षीण, निस्तेज होता चला जाता है, क्षुधा मन्द हो जाती है, सुस्ती घेर लेती है, स्मरणशक्ति तथा अन्य ज्ञानशक्तियाँ घटने लग जाती हैं। विचार करते ही सिर चकराता है। क्षमता शक्ति बहुत घट जाती है। प्रतिश्याय विष्टब्धता अग्निमान्द्य आदि कष्ट पीछे पड़े रहते हैं। परीक्षाओंसे यह भी जाना गया है कि यदि मनुष्य अधिक समय तक उत्तेजित न हो, विषयकी इच्छा होते ही प्रसंग कर ले और वीर्यसे भिन्न उक्त रसोंका स्राव न होने दे तो कुछ समय इस तरह सुरक्षित प्रसंग करते रहने पर इनका बहिःस्राव अधिक घट जाता है। सहवासके समय केवल वीर्य ही अधिक स्खलित होता रहे, उसके साथ मदरस कम जाता रहे तो, ऐसी स्थितिसे शरीरको कोई हानि नहीं होती। उक्त रस फिर रक्त-रसमें मिश्रित होते रहते है और इनका संतुलन रक्तमें बराबर बना रहता है, इससे ओजोत्पत्ति होती रहती है और शरीरमें क्षमताशक्ति कान्ति आदि काफी बने रहते हैं। मनुष्य जब मिथ्या आहार और उक्त मिथ्या विहारसे बचा रहता है तो शरीर पूर्णक्षम बना रहता है। ऐसी क्षमताशक्तिको सहज या स्वाभाविक क्षमताके नामसे भी पुकारते हैं। मनुष्य चाहे तो संयमसे रहकर इन्हें बनाये रख सकता है, चाहे असंयमी होकर मिटा भी सकता है।

यदि मनुष्य संयमी रहे तो उसका शरीर पूर्ण सक्षम होता है। उसे कोई बड़ेसे बड़ा जैवी कारण उसके शरीरको प्रभावित नहीं कर सकता। यह क्षमता इसको कहाँसे प्राप्त हुई? सुनिये! करोड़ों वर्षके जीवन-संघर्षमे यह न जाने कैसे-कैसे प्रबल शत्रुओंसे लगातार जीवन-युद्ध करता चला आ रहा है। इसके भीतर कोई सत्ता थी, जो इसे आज तक बचाती चली आई। कृत्रिम साधन तो आज आठ दस हजार वर्षसे इसे ज्ञात हुए हैं। उससे पूर्व तो यह अन्य प्राणिवत् वन्य स्थितिमें ही था। उस समय सिवाय आन्तरिक शक्तिके और कौन संरक्षक था? स्पष्ट उत्तर है, यही क्षमता शक्ति। यदि आज हम फिर इसे सबल, सशक्त बनाना चाहें तो हम प्राकृतिक जीवनका अध्ययन करके अपने जीवनको संयमी बनाकर स्वस्थ रखनेके साधन जुटा सकते हैं। उस समय आपके भीतर कितनी प्रबल क्षमता उत्पन्न होगी, इसे आप स्वयम् आजमा सकते हैं। उस समय यदि कोई आपके भीतर विसूचिकाके, प्लेगके कितने ही कीटाणु क्यों न पहुँचा दे, वह आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। आपको पता भी नहीं चलेगा शरीर भीतर ही भीतर उन्हें अपनी क्षमताशक्तिसे नष्ट कर डालेगा। यह विचार किसी की जूठन नहीं, प्रत्युत मेरे अनुभवजन्य विचार हैं। जो व्यक्ति जब चाहे इसकी सत्यताको परख सकता है। उक्त स्वाभाविक क्षमतासे भिन्न इस समय कुछ और

क्षमताके प्रमाण भी मिले हैं, उनमें से एक रोगोत्तर क्षमताका है। किसी व्यक्तिको एक बार शीतला हो जाय तो पुनः उसे वह नही होती। यही बात कण्ठारोहण, पोतज्वर आदि पाँच सात रोगोंके सम्बन्धमें देखी गई है। ज्ञात हुआ कि इन रोगोंके होने पर शरीरमें जो प्रतिक्रिया होती है, उस प्रतिक्रियाका परिज्ञान शरीरको बहुधा बीसों वर्षोंतक बना रहता है। यदि दुबारा कहीं वही रोग फिर आक्रमण करे तो पूर्वकालिक अनुभवके कारण रोगारम्भके साथ प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है, इसीलिये रोगका कारण नष्ट हो जाता है जिससे रोगका प्रादुर्भाव नहीं होता। यदि किसीको वह रोग दुबारा भी हो जाय तो वह बहुत निर्बल होता है। ऐसी रोगोत्तर क्षमताको बनाये रखनेके अब कुछ ऐसे साधन निकल आये हैं जिसे कृत्रिम क्षमता भी कहते हैं।

कृत्रिम क्षमताविधि—जिन जीवाणु, कीटाणुओंसे रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हे निर्बल करके, मार करके या संस्कार करके उनसे जो द्रव तय्यार किये जाते हैं, उन द्रवोंको शरीरके भीतर सूचीवेध क्रिया द्वारा पहुँचा कर प्रतिक्रिया उत्पन्न कराते है। कई जैवी विषोंका रस भी तय्यार कर उनका भी सूचीवेध द्वारा अन्तःक्षेप करके प्रतिक्रिया उत्पन्न कराते हैं। इस विधिसे शरीरमें उक्त जैवी रोगोंके प्रति कुछ समयके लिये क्षमता उत्पन्न हो जाती है। यह भी एक प्रकारकी रोगोत्तर क्षमता ही है। प्लेगके दिनोंमें, विष्-

चिकाके दिनोंमें टीका लगवाना रोगोत्तर क्षमता प्राप्त करना है। मसूरिका-का बच्चोंको टीका इसी रोगोत्तर—क्षमताके लिये लगाया जाता है। और यह आज ५० वर्षके अनुभवने सिद्ध कर दिया है कि टीका लगे हुए बालकोंमेंसे ५ प्रतिशतसे अधिक मसूरिकाके आखेट नहीं होते।

जैवी रोग और शरीर

जीवाणु और कीटाणु अत्यन्त सूक्ष्म सजीव प्राणी हैं। जीवाणु जंगम वर्ग (प्राणी वर्ग) के और कीटाणु स्थावर वर्ग (वनस्पतिवर्ग) के आदि प्राणी हैं और इन दोनों वर्गोंके प्राणियोंका शरीर एक कोषमय या एक जीवमय होता है। एक कोष या जीवसे अभिप्राय है उसके पूर्ण शरीरसे जिसे जैव भी कहते हैं। क्योंकि आरम्भमें जीवन इसी एक कोषमें परिलक्षित हुआ। इन्हींके प्रादुर्भावसे जड़, चेतन, विभेदकी सीमा पड़ी। जितनी भी चेतन सृष्टि अनेक आकारोंकी दिखाई देती है सबका बीज यही जैव जगत् है। इसकी शारीरिक आकृति जितनी बड़ी सीमा बनाती है उसे कोष कहा गया है। आकारमें वह आकृति एकत्रसरेणुके शतांश भागसे भी कुछ छोटी होती हैं किन्तु, जीवन व्यापारमें वह अन्य प्राणिवत् हैं और उनमें जीवनके षट् लक्षण पाये जाते हैं।

इस समय जितने अनेक कोषी बृहत् शरीरधारी दृश्य

जगत्के जितने प्राणी दिखाई देते हैं यह सब तो परिस्थिति प्रभावसे बदले और एक जीवमय शरीरसे अनेक जीवमय शरीरवाले बनते चले गये। किन्तु, कुछ ऐसे भी स्थावर, जंगम वर्गके जैव रह गये जिन्हें अपनेको एक जीवमय शरीरसे अनेक जीवमय शरीर या अनेक कोषी शरीरमें परिवर्त्तनकी कोई आवश्यकता न दिखाई दी। अथवा वह अति संकटमय परिस्थितिसे बचे रहे। इसीलिये उन्हें आजतक एक कोषी एक जीवमय अपने आदि शरीरको धारण किये रहनेमे बाधा नहीं दिखाई दी, तभी वह आज अपने उसी रूपमें पाये जाते हैं। सजीव सृष्टिका आरम्भ इन्हीं एक कोषी प्राणियोंसे हुआ। आरम्भमें समस्त जीव एक कोषी प्रादुर्भूत हुए, यह निश्चित मत है। इसलिए ऐसे जैवोंको आदि जीव, आदि प्राणी, आरम्भिक जीव आदि नाम भी दिये गये हैं।

जो आयुर्वेदज्ञ जीवाणु-कीटाणुवादको मिथ्या भ्रम कहनेका साहस करते हैं, उन्हें यह ज्ञान नहीं कि सृष्टिका विकास क्रम विना इनकी उत्पत्ति सिद्ध हुए कभी सिद्ध नहीं हो सकती। इतने बड़े-बड़े सजीव जगतके प्राणियोंकी आरम्भमें रचना उसी क्रमसे हुई है, जिस क्रमसे एक अत्यन्त सूक्ष्म बीज द्वारा वृक्षकी तथा रजवीर्यके एक-एक कोषी शरीरसे स्थावर वर्गके शरीरकी होती है। इस तरहका शारीरिक विकास जीवन विकासका एक ज्वलयमान उदाहरण है। जो- व्यक्ति जीवाणु-कीटाणुवादको नहीं मानते उन्हें तो

एक कोषसे गर्भ-स्थिति व वृद्धिको भी नहीं मानना चाहिये। मनुष्यकी उत्पत्ति जैसी एकाएक आरम्भमें हुई, उसी तरह अब होती है, ऐसा मानते रहना चाहिये। संसार यदि उनके इस कथनका परिहास करे, तो करने दो।

जीवनयुद्ध और रोग—इन जैवों द्वारा होनेवाले कष्टको वास्तवमें रोग नहीं कहना चाहिये। क्योंकि, जिस तरह दो आदमी अपने अपने स्वार्थको लेकर लड़ते हैं और उस लड़ाईमें दोनों या एक घायल होता है तो उस घायलावस्थाको कोई रोग नहीं कहता। प्रत्युत यही कहते हैं कि वह लड़े और लड़ाईमें क्षत हो गये, मारे गये। ठीक यही बात इन जैवी आक्रमणोंसे होती है। एक प्राणीकी प्राणीसे लड़ाई कोष समूहों द्वारा (हाथों पैरोंसे) होती है, इन एक कोषी प्राणियोंकी लड़ाई भी शरीरके एक कोषी प्राणियोंसे होती है। बाहरकी लड़ाईमें हमने तलवार, भाला, बन्दूक बनाये हैं। और इनके द्वारा लड़ते हैं। एक कोषी लड़ाईमें जिस प्रकारके अस्त्र-शस्त्र (विष) जैव प्रयोगमें लाते हैं उसी तरहके अस्त्र-शस्त्र (प्रतिविष) हम भी प्रयोगमें लाते हैं। प्रश्न रह जाता है इस लड़ाईमें जीतनेका। यह सब जानते हैं जो बलवान् होगा जिसके अस्त्र-शस्त्र उत्तम होंगे, जिसे इनका उपयोग अच्छा ज्ञात होगा वही जीतेगा। यदि मनुष्यमें क्षमता शक्ति बलवान होगी तो यह समझो कि उसके अस्त्र-शस्त्र सब बलवान् हैं। जिसमें यह शक्ति

निर्बल होगी उसका सारा यौद्धिक साजबाज सब निर्बल होगा। उसके घायल होने मारे जानेका सदा ही भय है। वास्तवमें जैवी रोग हमारे शरीरके सजीव कोषोंसे इन जैवों द्वारा जीवनका संग्राम है। वह हमारे भीतर घुसकर हमें खाना, मारना चाहते हैं और हम उन्हें मारना चाहते हैं। यदि हम सक्षम हैं तो यह हमारा बाल बाँका नहीं कर सकते। हम अक्षम हैं तो घायल हो जाते हैं और अधिक घायल हों तो मृत्यु हो जाती है। इस आन्तरिक अभिघातावस्थाको विद्वानोंने रोग संज्ञा दे दी है, वह भी विशेष रोगोंके नामसे।

जब हमारे शरीरमें गंडूपद, चुरव आदि कृमि समूह देखे जाते हैं, और वह शरीरमें रह कर शरीरसे अपना पोषण प्राप्त करते हैं तो अन्य प्रकारके जीवाणु, कीटाणु जो नंगी आँखों नहीं देखे जाते, शरीरसे अपना पोषण प्राप्त कर सकते हैं इसे वैद्योंको अघटित घटना नहीं समझनी चाहिये।

जिस तरह आयुर्वेदज्ञोंको इन औपसर्गिक कारणोंका कुछ अनुभव हुआ था इसी तरह इन जैवी कारणोंसे शरीरमें आनेवाले परिवर्त्तनोंका उस समय साधारण ही अनुभव था। किसी जैवी कारणका शरीरमें प्रवेश हो जाय तो उससे शरीरमें क्या-क्या परिवर्त्तन होते हैं और क्या-क्या हानियाँ होती हैं इसको हमने उस समय वास्तविक रूपमें देखनेकी

चेष्टा नहीं की। हमने त्रिदोष कोपसे इन्हें माना; इसी कारण इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। जो परिवर्त्तन व हानियाँ होती हैं उन्हें त्रिदोष स्थितिके कारण उत्पन्न हुई दशा मान लिया, परन्तु वास्तवमें यह बात न थी।

जैवी कारणोंसे शरीरमें जो विशेष परिवर्त्तन होते हैं, तथा उनसे जो हानियाँ होती हैं, वह बहुत विभेदयुक्त होती हैं जिनका क्रमयुक्त वर्णन बहुत उपयोगी होगा।

जैवोंका प्रवेशमार्ग—जैव शरीरमें एक ही मार्गसे प्रवेश होते हों यह बात नहीं, वह मुँह द्वारा, खाद्य पेयमें मिलकर, श्वास द्वारा, धूल कण तथा जल कणोंमें मिलकर अन्दर पहुँचते हैं। कई बार रोगी श्वास ले रहा हो, खाँस रहा हो और हम उसके बिलकुल सामने बैठे हों तो उस स्थितिमें उसके अन्दरसे जलवाष्प, थूक, श्लेष्मके कण बराबर निकलते रहते हैं, उसपर भी जैव होते हैं, जो श्वास खींचते समय हमारे भीतर भी उन कणोंके साथ जा पहुँचते हैं। इससे भिन्न कहीं त्वचामें जख्म हो जाय उस मार्गसे भी घुस जाते हैं। किलनी, मक्खी, मच्छर, जूँ, पिस्सू, खटमल, इनके भीतर भी कई जातिके जैव रह सकते हैं और जब यह काटते हैं, तो इनकी सूँडके साथ उतरने वाले रसके साथ वह जैव उतर कर शरीरमें घुस जाते हैं। इस तरह इनके शरीरमें प्रवेशके कई मार्ग हैं। किन्तु एक बात सबसे बड़ी यह है, कि कोई जैव किसी मार्गसे शरीरमें घुसे वह वहीं

वृद्धि प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत वह अपने केन्द्रकी ओर बढ़ता है। हरएक जातिके जैवोंको शरीरके भिन्न-भिन्न स्थान पसन्द हैं। जैसे—मन्थरके जैवोंको अन्त्राशय, विपमज्वरके जैवोंको रक्तकण, क्षयजैवोंको फुफ्फुस, लसिका ग्रन्थियाँ आदि। शरीरमें यह किसी मार्गसे प्रवेश करें, शरीरके अक्षम होने पर यह घूमते-फिरते शरीरके संरक्षकोंसे लड़ते-भिड़ते यह अपनेको उनसे बचाते हुए अपने केन्द्र तक पहुँच जाते हैं। फिर वहाँ पहुँच कर अपनी स्थिति दृढ़ करते हैं और साथ-साथ वंश वृद्धि भी आरम्भ कर देते हैं। उनके वहाँ पहुँचने पर शरीर-रक्षक उनका सामुख्य प्रबलतासे करते हैं किन्तु, शरीरके रक्षक पूर्ण सक्षम न हों तो वह उन्हे मारडालनेमें समर्थ नहीं होते, फिर भी लड़ाई जारी रहती है। उस समय वह जैव एक ओर तो अपना वंश विस्तार करते हैं, दूसरी ओर अपने शरीरसे ऐसे विप रूप पदार्थोंकी रचना भी करते है, जो शरीर रक्षकोंके लिये तथा शरीरके लिये अत्यन्त हानिकर होते हैं। उससे शरीर को बहुत हानि होती है। विप और जैवोंके साथ तथा वहाँ पर जीवन संग्राम होता रहनेके कारण शरीरमे अनेक परिवर्त्तन आते हैं जिसकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

प्राग्रूप या सञ्चयकाल—जब किसी रोगकारक जैवका शरीरमें प्रवेश हो जाता है, तो उस प्रवेशकालसे

लेकर जबतक रोगका रूप प्रकट न हो उस समय तकका नाम प्रागूरूप या सञ्चयकाल कहाता है। इस सञ्चयकालमें जैव अपनी शक्ति (विष) को बढ़ाते चले जाते हैं, और जब उनकी वृद्धि शरीरके लिये असह्य हो उठती है, तो वह असह्यता रोगके रूपमें परिस्फुट होती है। किस-किस ज्वरोत्पादक जैवोंका सञ्चयकाल कितना होता है इसका पता लगाया गया है वह निम्न है।

भिन्न-भिन्न जैवोंका शक्ति सञ्चयकाल

नाम रोग	सञ्चयकाल
टाइफसज्वर	७ से १० दिन तक
फुफ्फुस प्रदाहीज्वर	१ से ७ दिन तक
शीर्ष मण्डल प्रदाहीज्वर	१ – ५ ,,
मन्थरज्वर	३ – १५ ,,
उपमन्थरज्वर	५ – १५ ,,
श्वसनज्वर (इन्फ्लुइञ्जा)	कुछ घण्टेसे ३ दिन तक
प्लेग	कुछ घण्टेसे ७ ,,
कण्ठारोहण	१ से ५ ,,
माल्टाज्वर	७ – ९ ,,
पुनरावर्त्तीज्वर	४ – ११ – १२ ,,
कालज्वर	१ – ५ ,,
मसूरिका	७ – १५ ,,

लघुमसूरिका	१५ – २१	,,
रोमान्तिका	७ – २०	,,
अस्थिभञ्जीज्वर	३ – ७	,,
पीतज्वर	३ – ५	,,
विषमज्वर	७ – १०	,,

शरीरमें परिवर्त्तन—जब तक जैव शरीरमें प्रवेश करके अपने केन्द्रतक जानेकी चेष्टा करते हैं, तबतक उनके पीछे शरीर रक्षक दल उन्हें पकड़ने, मारनेके लिये भागे-भागे फिरते हैं। जब वह बचते हुए अपने केन्द्र तक पहुँच जाते हैं, तो वहाँ फिर प्रबल सङ्घर्ष आरम्भ हो जाता है। उस स्थानके आसपास रक्षकदल जमा होने लगता है। शरीरमें रक्षक दलकी संख्या प्रतिक्षण तेजीसे बढ़ती चली जाती है। जहाँ जैव हों उसके आसपास अधिक रक्षक दलोंके जमा हो जानेसे रक्ताभिसरणका मार्ग तङ्ग होता चला जाता है। धीरे-धीरे रक्तावरोध होता है। इधर रक्षक दलसे उनका जीवन सङ्घर्ष जोरोंसे जारी होता है। जैवोंकी वृद्धि रक्षक दलकी वृद्धि और रक्तके सञ्चयसे उक्त स्थान या अङ्ग बढ़ने लग जाता है। उस अङ्गमें इस तरहकी जो वृद्धि होती है, उसको शोथ संज्ञा दी जाती है। उस शोथ स्थानमें सङ्घर्ष व बाधा तथा विषके कारण दाह होता है। इस शोथयुक्त दहनपूर्ण स्थितिको जो जैवोंके कारण उत्पन्न होती है—विद्वानोंने प्रदाह कहा है। केवल शोथमें दाह नहीं होता। प्रदाहमें शोथ होकर

दाह होता है, जैसे व्रणमें, जैवी रक्तज शोथमें। इसी आधार पर जैवी रोग, अन्त्र प्रदाह, फुफ्फुस प्रदाह आदिका नामकरण हुआ है उसका स्पष्ट अभिप्राय यही समझना चाहिये कि प्रदाह जैवी कारणसे है और उक्त अङ्गोंमें है जिनका नाम लिया जाता है।

रोग संचयकालमें शरीरके भीतर इस तरह प्रदाह हो कर पुनः रोगका रूप प्रकट होता है इसका इस क्रमसे इस तरहका आयुर्वेद ग्रन्थोंमें उल्लेख नहीं मिलता।

आंगिक व सार्वदैहिक प्रभाव—जब जैवी कारणोंसे इस तरह किसी अंगमें प्रदाह हो और उसका प्रभाव उस अंगके आसपास तक सीमित रहे तो उसे आंगिक प्रदाह कहते हैं, यदि उस प्रदाहके कारण उत्पन्न प्रभाव समस्त शरीरमें फैल जाय तो उसे सर्वांगिक कहते हैं।

सार्वदैहिक प्रभावके कारण—इसके दो कारण होते हैं एक जैवमयता, दूसरी विषमयता। जैवमयतामें जैव अपने केन्द्रसे उत्पन्न हो होकर सारे शरीरमें फैलते चले जाते हैं और वह फिरते हुए समस्त शरीरमें विष फैलाते फिरते हैं। यह बात मन्थर ज्वरी, प्लेगी, माल्टाज्वरी विषमज्वरी जैवोंमें देखी जाती है। विषयमतामें जैव अपने केन्द्रमें ही रहकर बढ़ते हैं, किन्तु उनके द्वारा प्रादुर्भूत विष सारे शरीरमें फैलकर अपना प्रभाव दिखाता है जिससे

रोगके लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। यह बात कण्ठारोहण, फुफ्फुसप्रदाही, धनुर्वात आदिमें पाई जाती है।

आंगिक व सर्वांगिक प्रभावके रूप—जिस अंग पर किसी रोगकारक जैवोंका आक्रमण होता है हम बतला चुके हैं कि उस अंगके आक्रान्त होने पर सर्व प्रथम वहाँ शोथ होता है। शोथमें जीवाणु, कीटाणु उनका विष शरीरके रक्षकाणु, रक्त, रक्तरस तथा अन्यरक्त रसधातुके पदार्थ एकत्र होते रहते हैं। इनके एकीकरणके कारण उक्त अंगके सजीव कोषोंके भीतर व बाहरका स्थान उक्त पदार्थोंसे भर जाता है। कई बार उसमें चूनजम जैसे यौगिक पदार्थोंका जमाव होता है और उसमें काठिन्य आ जाता है। कई बार उसमें विष प्रभाव या अन्य कारणोंसे सन्धान उठ खड़ा हो तो वायवीय पदार्थ संजनित होते हैं। इससे वहाँ गैसोंका जमाव हो जाता है। कई बार किसीमें—यदि वह कलाका मध्य स्थान हो तो रक्तरस संचित होने लग जाता है। कईयोंमें रक्तावरोध होता है। इस तरह रक्तज, रसज, वायव्यज, अस्थिज आदि कई प्रकारके शोथ होते हैं और उनमेंसे किसीमें दाह होता है, किसीमें नहीं, यह शोथ यदि कुछ समय बने रहें तो ऐन्द्रिक पदार्थ जो वहाँ पर एकत्र होते हैं रुकने तथा विष, दाह प्रभावसे प्रभावित होनेके कारण बिगड़ने लगते

हैं तथा दूसरी ओर शरीर-रक्षक दल और जीवाणु-कीटाणु उस संग्राममें लड़ते मरते रहते हैं।

आरम्भमें अधिक मृत्यु-रक्षक दलकी होती है। इसीसे उस शोथमें इनके मृत शरीर और विकृत पदार्थोंका रूप पूय बनता रहता है। पूयमें शरीरके स्थानिक सजीव कोष रक्षकाणु, रक्तकाणु, रसधातुके भागवतन्तु आदि अनेक पदार्थ तथा जैव और उसका विष होता है। पूय पड़नेके बाद उक्त स्थानमें क्षत हो जाता है और क्षत बढ़ता चला जाय तो अंगोंका नाश होता चला जाता है। कई बार शोथ होता है किन्तु तीव्र विष प्रभावसे पूय उत्पन्न नहीं होता, एकाएक कोथ उत्पन्न हो जाता है। कई बार बिना शोथके भी कोथ हो जाता है। कोथमें उस अंगके सजीव कोष एकाएक मृत मिलते हैं, किन्तु उनके मृत होने पर भी वहाँ पूय नहीं बनता। आंगिक मृत्यु एकाएक किसी कारणसे हो जाय और वहाँ रक्षकाणु, रक्तकाणु तथा अन्य पदार्थोंका जमाव न हो तो पूय नहीं देखा जाता। कोथमें केवल अंगके सजीव कोष मृत होकर उस अंगका कुछ या समस्त भाग नष्ट हो जाता है। मृत भाग सूखकर और मुरझाकर रह जाता है।

इस तरह शोथ, पूय, कोथ, क्षत यह चार रूपके परिवर्त्तन शरीरके अंगोंमें पाये जाते हैं, जो प्रायः जैवी कारणोंसे होते हैं। यह परिवर्त्तन स्थानिक या आंगिक होते हैं।

. वैद्यको रोगोत्पन्न होनेके समयसे लेकर जिस अंगमें रोगका केन्द्र हो, उसे समय-समय पर देखते रहना चाहिये कि उक्त अंगकी स्थिति क्या है ? इससे रोगीके रिष्टारिष्टका ज्ञान होता रहता है। शरीरके अंग उपांगमें इस तरहका जो परिवर्त्तन भीतर-ही-भीतर होता है, उसे पूर्व ही जानना चाहिये। इसका पता हमारे प्राचीन वैद्योंको था, या नहीं ? उसका स्पष्टीकरण कहीं नहीं मिलता, या उस समय उसे इस स्थितिके अनुसार समझा न जा सका होगा। इस समय इसे नये-नये यान्त्रिक साधनोंसे देखने और उन्हें पहचाननेका अच्छा क्रम ज्ञात हो गया है। प्रत्येक वैद्यको अब यान्त्रिक सहायतासे आन्तरिक स्थितिका अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये।

सर्वांगिक परिवर्त्तन—जैवी रोग दो प्रकारके हैं। एक वह जिनमें आंगिक विकार ही उत्पन्न होता है जैसे दद्रु, खारश, अभिष्यन्द, सुजाक, उपदंश आदि। इन रोगोंमें केवल शरीरका कोई अंग विशेष ही आक्रान्त होता है और उसका प्रभाव प्रायः सीमित रहता है। दूसरा वह जैवी रोग होता है, जिनमें विकारी तो शरीरका कोई एक ही अंग होता है, किन्तु उसका प्रभाव सारे शरीरमें फैल जाता है। जैव या जैवोंका विष शरीरमें प्रसरकर जैवमयता या विषमयता उत्पन्न कर देता है। इससे शरीरमें भारी परि-

वर्त्तन होते हैं। तथा उस आक्रान्त अंगसे भिन्न एकाएक अन्य अंग भी उसके प्रभावमें आ जाते हैं।

यथा—विषमज्वर, फुफ्फुसप्रदाहीज्वर, मन्थरज्वर आदि इन रोगोंको ज्वर संज्ञा दी गई है, इसका प्रधान कारण यह है कि इन रोगकारक जैवोंके द्वारा प्रायः ज्वर हो जाता है और ज्वरके साथ या ज्वरके कारण शरीरमें अनेक परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाते हैं।

सर्वांगिक परिवर्त्तन—एक स्थानसे बढ़कर जैव-मयता या विषमयता जब सारे शरीरमें फैलने लगती है तो भिन्न-भिन्न अंगोंमें निम्नलिखित परिवर्त्तन देखे जाते हैं।

त्वचागत परिवर्त्तन—त्वचा प्रायः रूक्ष हो जाती है और उसमें रक्तिमाका आभास होता है, चेहरा तमतमाया हुआ लगता है, स्पर्शसे त्वचा उष्ण प्रतीत होती है, नेत्र लाल हो जाते हैं, रोमांच होता है, प्रस्वेदका प्रायः अवरोध होता है। किसी-किसी रोगमें पसीना आता है तो विशेष-गन्धयुक्त होता है। जैसे विषमज्वरमें, आमवातिकज्वरमें आये पसीनेकी बू खट्टी होती है। कुछ रोगोंके मध्यमें राजिका, रक्तमण्डल, विस्फोट, पिटिका आदि त्वचा पर निकलती हैं। जैसे मन्थर, मसूरिका, टाइफस आदिमें। किसी-किसी रोगमें रक्तकेशिकाओंके प्रसारसे वह फट जाती हैं इससे त्वचाके नीचे जगह-जगह पर रक्तका संचय भी होता है।

मांसपेशीगत परिवर्त्तन—मांशपेशियाँ प्रायः टूटती

सी हैं, बारम्बार इसीसे अंगड़ाई आती है, शरीर टूटता है, तथा स्तम्भित होता है। तथा—किसी-किसीमें मांसपेशियाँ साधारण किसीमें विशेष प्रकम्पित होती हैं।

वक्षोदर मध्यच्छ-पेशी प्रभावित हो तो हिक्का आने लगती है। कई रोगोंमें इतनी शिथिलता हो जाती है कि शरीर सुस्त हो जाता है; हाथ, पैर तक हिलानेको जी नहीं करता।

लघुग्रंथियाँ—प्रणालीविहीन व प्रणालीयुक्त ग्रन्थियों का रससंजन घट जाता है, कइयोंका रुक जाता है। लालारस, क्लोमरस, आमाशयिकरस पित्तरस आदिकी मात्रा काफी घट जाती है। उपवृक्करस, चुल्लिकारस, पूगीरस, आदिका रससंजनन प्रायः कम हो जाता है।

पाकच संस्थान—भोजनसे अरुचि होती है, आमाशय व आन्त्रिक गति घट जाती है, भुक्त द्रव्य शीघ्र आगे नहीं बढ़ते, वहीं पड़े-पड़े सड़ने व बिगड़ने लगते हैं। प्रायः मलावरोध होता है। यदि उदरदरीमें प्रहर्षण हो जाय तो रेचन आते हैं। जिह्वा प्रायः मलिन होती है। भिन्न-भिन्न रोगोंमें मलिनता भिन्न-भिन्न आती है। मुँह शुष्क रहता है, तृषा लगती है। दाँतोंमें कोई वस्तु चढ़ी-सी प्रतीत होती है। मुंहल्हेसदार साबुन घुलासा या कटु स्वादी होता है।

बृहद् ग्रंथियाँ—कई रोगोंमें प्लीहा कइयोंमें यकृत् बढ़

जाता है। उनमें दबानेसे शोथ व दर्दकी प्रतीति होती है। वृक्कोंका काम कुछ शिथिल पड़ जाता है। इसीलिये तथा कुछ और कारणोंसे भी मूत्रकी मात्रा घट जाती है। मूत्रका गुरुत्व बढ़ जाता है कारण उसमें मूत्रिया, मूत्रेत, मूत्राम्ल, तथा पाशुंजमूके लवण बढ़ जाते हैं। इससे भिन्न स्फुरेत गन्धेतके लवणोंकी मात्रा भी काफी हो जाती है। सैंधवकी मात्रा अवश्य घट जाती है किसी-किसी रोगमें तो इसका चिह्न भी नहीं मिलता जैसे—फुफ्फुसप्रदाही ज्वरमें। जब रक्तमें अपच द्रव्योंकी मात्रा बढ़ जाती है तो मूत्रमें श्वेत-सारीय पदार्थ भी देखे जाते हैं। मूत्रका वर्ण लाल, पीला और गाढ़ा हो जाता है।

रक्त संस्थान—रक्तकणिकाओंकी मात्रा तथा रक्त-रसकी क्षारीयता घट जाती है, रक्तरञ्जक द्रव्योंकी मात्रा भी घट जाती है। रक्षकदलकी संख्या प्रतिक्षण बढ़ती चली जाती है। कुछ रक्तस्थ प्रभावी रोगोंमें इनकी संख्या घट भी जाती है; यथा—राजयक्ष्मा, रोमान्तिका, विषमज्वर आदिमें। हृदयकी गति बढ़ जाती है। हृदयकी गति विष प्रभाव और उत्ताप वृद्धिके अनुपातसे बढ़ती है, प्रति १ अंश फा० हीट उत्ताप वृद्धि पीछे प्रायः ५–७ के अनुपातसे गति वृद्धि होती है। एक दो रोगोंके विषोंका आरम्भमें इसके विपरीत प्रभाव भी होता है। मन्थरज्वरमें तथा शीर्षमूल प्रदाहके आरम्भकालमें जब ज्वर बढ़ता है तो उसके अनु-

घातसे हृदयकी गति नहीं बढ़ती। एक सप्ताह पश्चात् उसकी गति बढ़ती है। इस परीक्षासे इस रोगको पहिचाननेमें सुविधा होती है।

श्वास संस्थान—उत्ताप वृद्धिके साथ-साथ श्वासकी गति भी बढ़ जाती है। साधारण गतिसे इसकी गति डेवढ़ी तक चली जाती है। हृदयकी गतिसे इसका अनुपात १ : ४ के समीप समीप रहता है। फुफ्फुसप्रदाहीज्वरमें इसका अनुपात १ : ३ और कभी घट कर १ : २ तक देखा जाता है। इसका कारण फुफ्फुसका आक्रान्त होना सिद्ध करता है।

शीर्ष संस्थान—विषमयताका सबसे प्रथम व अधिक प्रभाव मस्तिष्कके उत्ताप नियन्त्रक केन्द्र पर होता है, इसीसे शरीरके उत्तापका नियन्त्रण नहीं रहता। उत्ताप बढ़ जाता है। जब उत्ताप वृद्धि होती है तो मस्तिष्कका अन्य भाग भी अधिक प्रभावित होता है। इसीसे मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मूर्छा, मद, मोह, प्रलाप, तन्द्रा, निद्रानाश, भ्रम आदि समस्त उपद्रव मस्तिष्कके प्रभावी होनेके द्योतक हैं। स्नायुमण्डल भी प्रभावित हो तो आक्षेप, कम्प और अँगुलियोंकी अनैच्छिक गति आदि कार्य देखे जाते हैं।

जैवमयता या विषमयताका प्राबल्य बना रहे और उसके प्रभावसे ज्वरकी मात्रा अत्यधिक हो तो प्रायः देखा जाता है कि हृदय, फुफ्फुस, मस्तिष्कादि शरीर नियन्त्रक केन्द्र

विक्षुब्ध होने लग जाते हैं और वह अपना व्यापार बन्द कर दें तो मृत्यु हो जाती है। इसलिये वैद्योंको ऐसी सर्वांगिक स्थिति उत्पन्न होने पर उसे बड़े ध्यानसे देखते रहना चाहिये। तथा शरीरको अरिष्टकी ओर जाते देख उसको उससे बचानेके साधन समझने चाहिये और उनका उपयोग जानना चाहिये।

निदान

रोगको निश्चित रूपसे जाननेका नाम निदान है। जो वैद्य रोगके कारणोंको उसके लक्षण देखकर नहीं जान सकते, तथा प्रायोगिक यन्त्र साधन शून्य हैं वह चिकित्सामें कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। निशाना लगेगा ही तब, जब लक्ष्यको निश्चित स्थान पर अच्छी तरह देख सकेंगे।

जो वैद्य अनेक औषधियोंका अधिक संमिश्रण करके उनका उपयोग करते देखे जाते हैं, निश्चय समझो वह निदानमें असफल होनेके कारण ही ऐसा करते हैं। न जाने कौन-सी चीज इनमेंसे उपकारी हो—यह बात ध्यानमें रखकर एक औषधमें अनेक औषधोंका मिश्रण बढ़ाते हैं। यह उनकी धृष्टता है।

हमारा अनुभव है कि यदि निदान सही हो जाय तो उसके निराकरणका साधन प्रायः निरापद होता है और उसे आसानीसे ढूंढा जा सकता है। सरल साधारण औषध उपयोगकी विधियोंको जानना ही महत्त्वकी बात रह जाती है। देखा जाता है कि अनेक बार बड़े-बड़े योग्य चिकित्सक

असाध्य रोगोंको सरल उपायोंसे ठीक कर देते हैं, इसमें कोई और रहस्य नहीं होता। वह रोग निदानमें दक्ष होते हैं, इसीलिये उनकी चिकित्सा अचूक होती है।

रोग निदानके लिये विशेषकर संचारी रोगोंको समझने के लिये वैद्यको निम्नलिखित बातोंकी ओर सदा ध्यान रखना चाहिये।

ऋतु—जैवी रोग प्रायः ऋतु परिवर्त्तनकालमें अधिक होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि, यह जैव (जीवाणु-कीटाणु) न तो अधिक गर्मी, सहन कर सकते हैं न अधिक सर्दी। अधिक गर्मी अधिक सर्दी इनकी वृद्धिमें, जीवन-की स्थितिको बनाये रखनेमें बाधक होती है। इनके लिये जब ऋतु अनुकूल मिलता है तो इनकी वृद्धि इतने प्रबल वेगसे होती है कि एक जैवसे २४ घंटेमें कम-से-कम एक करोड़ साठ लाख तथा अधिक-से-अधिक तीन पद्मके लग-भग इनकी संख्या बढ़ जाती है।

अनेक बार यह बहुतसे वैद्योंने देखा होगा कि अधिक शीत पड़ रहा है। उस समय कोई बीमारी फैली हुई नहीं होती। एकाएक बादल आ जाते हैं, बादलोंके घिरे रहनेसे एकाएक सर्दी घट जाती है और ऋतुमें अन्तर आ जाता है, उस समय जैवोंको अपने वंशवृद्धिका अवसर मिल जाता है। ऐसे अवसर अनेक बार गर्मियोंमें भी उपस्थित होते हैं। एकाएक जब ऐसा ऋतु परिवर्त्तन हो तो प्रायः

फुफ्फुसप्रदाहीज्वर, प्रतिश्याय, कास, पार्श्वशूल, मन्थरज्वर आदि अनेक रोगोंका प्रकोप देखा जाता है। पूर्वकालमें[1] चाहे इन्हें दोषोंके संचयकोपका कारण माना जाता हो इस समय तो निश्चित रूपेण जाना जा चुका है कि एकाएक ऋतु-परिवर्त्तनसे जैवोंकी जहाँ वृद्धि होती है वहीं पर ही अक्षम मनुष्य उनके आखेट बनते हैं। ऋतुओंके इस परि-वर्त्तनसे जो जैवी व्याधियाँ होती हैं उसका कारण जैवोंकी अति वृद्धि ही है।

वैद्य, जब किसी ऋतुमें एक विशेष रोगको—जो जैवी हो—जान लें, तो उस समय उन्हें अन्य रोगियोंको देखते समय उस निश्चित लक्षणवाले रोगसे मिलते लक्षण पाकर अधिकतर अपना अनुमान उस जैवी रोगका बनाना चाहिये। कहीं दो चार रोगी एक निश्चित लक्षणवाले रोगके मिलें तो निश्चित समझना चाहिये कि यह रोग फैल रहा है। प्रायः मंथरज्वर, फुफ्फुसप्रदाहीज्वर, श्वसनज्वर आदि ऐसे ही ज्वर हैं जो ऋतुपरिवर्तनके समय ही अधिक फैलते देखे जाते हैं।

किन्तु विषमज्वरका ऋतु-परिवर्त्तनके साथ सीधा सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि यह रोग ऋतु परिवर्त्तनके

---

१ वर्षासुचीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति। माधव

समय होता है तथापि एक ऋतुमें सदा होनेके कारण तथा मच्छरोंकी विशेष जातिमें इसके जैवोंकी वृद्धि पायी जानेके कारण इसको ऋतुसे सीधा सम्बन्धित नहीं मान सकते; हाँ! मच्छरोंसे सम्बन्धित कह सकते हैं।

देश—हम देखते हैं कि जिस देशमें वर्षा अधिक होती है और मच्छरोंकी वंशवृद्धि खूब होती है उस देशमें विपमज्वर भी अधिक फैलता है। जिस देशमें वर्षा कम या नहीं होती, जैसे—बीकानेर प्रान्त, पश्चिम सीमान्त-देश, वहाँ उन विषमी जैवोंको विवर्द्धित करनेवाले मच्छरोंकी संख्या नहीं बढ़ती, इसीसे वहाँ विपमज्वर नहीं होता। इससे भिन्न हम यह भी देखते हैं कि जिन देशोंमें मच्छर अधिक होते हैं और विपमज्वरका प्रकोप बना रहता है वहाँ लोग रात्रिमें मच्छरोंसे बचनेके लिये मच्छरदानियोंका उपयोग करते हैं। देखा जाता है कि इस कृत्रिम विधिके उपयोगसे सौमें से ५ व्यक्ति भी विपमज्वरके आखेट नहीं होते, इसीलिए इसे ऋतुसे सम्बन्धित नहीं माना जा सकता। समय पाकर यदि कोई ऐसा साधन मिल जाय कि विषमीजैवपालक मच्छरोंका वंश नष्ट कर दिया जाय तो फिर विपमज्वरकी सम्भावना ही जाती रहेगी। ऋतुएँ तो आती ही रहेंगी, वर्षा भी होगी और वर्षाके बाद शरत् ऋतु भी आवेगी किन्तु, जब मच्छर ही न होंगे तो मनुष्यको काटेगा कौन? जब मनुष्यके शरीरमें विषमी जैवोंके प्रवेशका मार्ग ही न रहा,

और इनका प्रवेश और किसी आधारसे देखा नहीं जाता, तो फिर रोग होगा कैसे ? हाँ, यदि यह सिद्ध हो जाय कि इस ज्वरके जैव अन्य खाद्य, पेय द्वारा या धूलादि कणोंके आधार पर शरीरमें प्रवेश कर सकते हैं तो इन्हें ऋतुसे सम्बन्धित माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि पूर्वकालमें प्रति-वर्ष यह रोग बहुत अधिक होता था और इसके होनेका कारण जो बताया गया है कि कुछ अल्पदोष[१] शरीरमें बने रहे और ऐसी स्थितिमें अहित आहार-विहारके कारण यदि वह दोष वृद्धिको प्राप्त हो जायँ तो वह कुपित हुए दोष धातुओंको ग्रहण कर ज्वरको उत्पन्न करते हैं, ऐसे ज्वरकी विषम संज्ञा है। इस सिद्धान्तकी पुष्टि अब नहीं होती, न इसमें पित्तके प्रकोपको कारणीभूत देखा जाता है। इसलिये इस रोगका जो कारण सामने दीखता हो उसको छोड़कर अन्यको केवल अनुमानके आधार पर अब कोई माननेके लिये तय्यार नहीं, हमें भी इसकी सत्यताको देखकर व परख कर अपने विचारोंको बदलना चाहिये।

कालज्वरी जैव भी देश विशेषमें—आसाम, बंगालमें पाया जाता है। उन देशोंमें एक मक्खी होती है वह इस

---

१ दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्। माधव।

रोग जैवोंकी वाहक है। मक्खी प्रायः अँधेरे स्थानमें रहती है। उसके काटनेसे इस रोगके जैव शरीरमें प्रवेश करते हैं तब कालज्वर होता है। यह मक्खी देशान्तरमें नहीं जाती, न ऋतु विशेषसे ही सम्बन्ध रखती है इसीलिये रोग फैलता नहीं।

ऐसे रोगोंको समझनेमें देशकी स्थितिसे भी काफी सहायता मिल सकती है। वैद्यको यह पहिले स्मरण रखना चाहिये कि जिस देशमें यह विद्यमान हो वहाँके किसी प्राचीन वैद्यसे प्रथम पूछ ले कि यहाँ कौन कौनसे रोग अधिक होते हैं? इससे उसे रोग-निर्णय करनेमें काफी सहायता प्राप्त होगी।

जीव—कुछ रोग जीवोंके द्वारा फैलते हैं। जैसे—मक्खियोंसे विसूचिका, प्रवाहिका, अभिष्यन्द, मन्थरज्वर आदि। मक्खियाँ ऋतु विशेषमें उत्पन्न होती और बढ़ती हैं, प्रायः हेमन्तके बाद मक्खियाँ एकाएक बढ़ती हैं। जब अधिक गर्मी पड़ती है तब मर जाती हैं और फिर प्रावृट्काल आने पर बढ़ती हैं। इसीलिए उक्त रोग इस वाहकके द्वारा—जब यह अधिक फैल रही हों—वेगसे संचार करते हैं। इसी तरह मच्छर, खटमल, जूँ आदि द्वारा अनेक रोग फैलते हैं।

स्थान—अनेक जैवी रोगोंको समझनेमें स्थान भी सहयता करता है। रोगीको देखनेके लिये गया हुआ वैद्य

प्रकाश रहित, सीलावदार, जहाँ शुद्ध हवाका कम प्रवेश हो रहा हो, ऐसे स्थानको देखकर—राजयक्ष्मा जैसे रोग, प्रसूताज्वर आदिके होनेकी सम्भावना करे।

पूर्ववृत्त—रोगको समझनेके लिये रोगीके स्थान, आहार-विहारके सम्बन्धमें पूर्वकी बातोंका भी वैद्योंको ख्याल रखना चाहिये। वैद्य गन्दे प्रकाश रहित स्थानको देखकर यह अवश्य जाननेकी चेष्टा करे कि इस मकानमें प्रथम कोई राजयक्ष्मा, प्रसूता, मन्थरज्वर आदिके केस तो नहीं हुए हैं। यदि हों तो उन बीमारियोंसे सम्बन्धित बीमारीके होनेकी सम्भावना अधिक करे और पूछे—आहार कहाँ किया करते हो ? रोगीने दो चार दिन पूर्व कहीं अन्य स्थान पर कोई विशेष आहार-विहार तो नहीं किया ? किया है, तो वहाँ पर उस खाद्य पदार्थकी स्थिति आदिके सम्बन्धमें पूछने पर अनेक बार रोगके कारणको जाननेमें सहायता मिल जाती है।

सम्पर्क—मसूरिका, मन्थरज्वर आदि छूतसे भी फैल जाते हैं। पास-पड़ोसमें किसीको मसूरिका निकली हो और कोई पड़ोसी रोगीकी खबर लेनेके लिये जाय, और वह वहाँ बहुत समीप लग कर बैठे तो उक्त बीमारियोंकी छूत लग जाती है। पास-पड़ोसमें कोई बीमारी तो नहीं हो रही है ? वैद्यको इसका पता किसी ढङ्गसे ले लेनेमें अनेक बार रोग समझनेमें बहुत सहायता प्राप्त हो जाती है। रोगोंको जाननेके लिये इस तरह कारणको ढूँढ़नेकी

रोगीका भी इन विधियों पर अधिक विश्वास बढ़ गया है, इसलिये इनका उपयोग यदि स्वयम् वैद्य न कर सकें तो उसे किसी मित्र चिकित्सकको अपना सहायक बना लेना चाहिये।

निदानमें क्या प्रायोगिक विधियाँ सहायक होती हैं?

बहुतसे वैद्योंको अबतक इस बातका भ्रम है कि प्रायोगिक विधियाँ इतनी विश्वस्त नहीं जितनी उन्हें बताया जाता है। वास्तवमें विरोधी विचारधारी व्यक्तियोंकी ओरसे फैलाया हुआ यह एक भ्रम है। निम्नलिखित बातोंमें प्रायोगिक विधियाँ प्रायः विश्वस्त हैं।

(१) जैवदर्शन—सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र द्वारा विषमी, कालज्वरी, आवर्त्ती, माल्टाज्वरी, मन्थरज्वरी, उपदंश, सुजाक, विसूचिका आदि रोगोंके जैव स्पष्ट निर्भ्रम देखे व पहिचाने जाते हैं। अस्थिमज्जी, मसूरिका, रोमान्तिका आदि कुछ रोगोंके जैवोंकी आकृति इतनी सूक्ष्म होती है कि जिनका यन्त्रमें स्पष्ट दर्शन नहीं होता। ऐसी स्थितिमें उक्त जैवांशको लेकर उनकी वृद्धि कराते हैं और उनके सङ्घ-समूहकी परीक्षा करते हैं, उस स्थितिमें उनका पता चल जाता है। इससे भिन्न उन जैवसङ्घोंका सुवर, शशकादि प्राणियोंमें अन्तःक्षेप करके उसका परिणाम देखते हैं। यदि वे प्राणी बीमार हो जायँ, मर जायँ तो उक्त जातिके जैवोंके होनेका निश्चय हो जाता है।

मन्थरज्वर, कालज्वर, क्षय आदि जैवोंको जाननेकी

अन्य विशेष परीक्षाएँ भी आविष्कृत हो चुकी हैं, जिनसे इनका निश्चित ज्ञान हो जाता है। एक्स-रे भी इत्यादि कुछ रोगोंके जाननेमें सहायक हुआ है। जैव-दर्शनके लिये रक्त, थूक, मूत्र, मल, सौषुम्नरस आदि लिये जाते हैं। यदि रोगके कारण जैव हों तो इनकी उपस्थिति उक्त पदार्थोंमें मिलती है।

मूत्र परीक्षा—अनेक रोगोंमें मूत्रगत पदार्थोंका सन्तुलन बदल जाता है। किसी रोगमें कोई लवण बढ़ जाता है, किसीमें कोई घट जाता है तथा किसीमें श्वेतसार स्फुरेत् आदि अंश जाने लगते हैं। इनकी उपस्थिति किन-किन रोगोंमें कब-कब पाई जाती है, इसका ज्ञान वैद्योंको अवश्य बना रहना चाहिये। इसका उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थोंमें न होनेके बराबर है। इसीलिय वैद्योंको आधुनिक पद्धतियों द्वारा इनका परिज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिये।

विषमज्वर

यह रोग भारतवर्षका सबसे पुराना रोग है। आयुर्वेदके जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं, सबोंमें इसका विस्तारके साथ वर्णन मिलता है। किन्तु, यह होता किस कारणसे है? इसको पूर्वकालमें सही तौर पर नहीं जाना जा सका था। कुछ लोगोंके विचार थे कि वर्षाकालमें पित्त सञ्चय होता है और शरदारम्भमें कुपित होता है, इसी पित्त-कोपसे अन्य दोष मिलकर इस ज्वरका कारण बनते हैं। कुछके विचार थे कि

अल्प दोष-कोपके कारण यह ज्वर थोड़ा-थोड़ा बना रहे, ऐसी स्थितिमें अहित आहार-विहार हो तो दोषोंको कोपके लिये अधिक बल मिल जाता है। इसीसे रस, रक्तादिके आश्रित होकर दोष सहसा वेगवान् ज्वर उत्पन्न करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसे ज्वर पहिले भी विषमज्वर[2] ही होते हैं जो पुनः दोष-कोपके साथ रस, रक्तादि धातुओंका आश्रय ले लेते हैं। फिर वह वेगके साथ सहसा प्रकट होते हैं। कुछ व्यक्तियोंके विचार थे कि भूत[3]-बाधाके कारण विषमज्वर होता है। श्रीमान् माननीय कविराज गणनाथ-सेनजीने 'भूतानां सूक्ष्मप्राणिनां जीवाणूनामभिषङ्ग' ऐसा नये मतसे अर्थ[4] किया है, किन्तु, इसके सम्बन्धमें इतना कह देना ही पर्याप्त है कि शास्त्रकारोंने भूत-प्रेत-पिशाच आदि अदृश्य योनियाँ मानी है, जिनसे होनेवाले कष्टोंमें उद्वेग, हास्य, रोदन[4], कम्पादि विलक्षण लक्षणोंकी ओर उन्होंने सङ्केत किया है। जिसकी चिकित्सा भी मन्त्र, तन्त्र, बलि, होमादि द्वारा बतलायी है। इसलिये आपके इन विचारोंको शास्त्र-सम्मत नहीं कहा जा सकता।

हमें यह कहनेमें सङ्कोच नहीं होना चाहिये कि उस

---

१ दोषोल्पोऽहि सम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वापुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥ सुश्रुत। २ आरम्भाद्विषमोयस्तु। ३ केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्। ४ भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्य रोदन कम्पनम्॥ माधव।

समय ऐसे सूक्ष्म साधन न थे जिनसे इसके कारण को जाना जा सकता। हमारे ही यहाँ यह त्रुटि नहीं, पहिले यूरोपमें भी इसे गन्दी हवासे होनेवाला रोग समझते थे, इसीलिये इसका नाम रक्खा था मलेरिया। मलेरियाका अर्थ है खराब बिगड़ी हुई हवा। किन्तु, अब वह चाहे इसे इसी नामसे पुकारते हैं परन्तु अब उसे गन्दी हवाके कारण उत्पन्न हुआ कोई नहीं मानता।

इस समय यह अनेक विधिसे दिखाया जा सकता है कि इस ज्वरकी उत्पत्तिका कारण एक विशेष प्रकारके जीवाणु हैं। किन्तु वह जीवाणु सीधे शरीरमें प्रवेश नहीं करते। १९०७ में डाक्टर मैनसनने और मिस्टर जार्ज वारनने अपने शरीरको उन मच्छरों द्वारा कटाया जिनके शरीरमें विषमी जीवाणु विद्यमान थे। मच्छरोंके काटनेसे दोनों महानुभावोंको ज्वर हो गया। इसी तरह उन्होंने औरो पर भी प्रयोगोंसे सिद्ध किया कि इस ज्वरके जीवाणुओंका वाहन मच्छर है। मच्छरोंके काटनेसे यह ज्वर मनुष्योंको होता है और फिर मच्छरदानी लगाकर यह सिद्ध किया कि जिस देशमें विषमज्वर-वाहक मच्छर विद्यमान हों वहाँ मसहरी लगाकर रात्रिको शयन करो। दिनमें मच्छरोंके काटनेसे अपनेको बचाओ, कभी ज्वर न होगा। इस तरह इसकी सत्यताको सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र द्वारा इसके जीवाणु दिखाकर सिद्ध किया। तबसे हवा विकृतिका सिद्धान्त वहाँसे लोप हो

गया। इसी तरह अब हमारे यहाँ भी त्रिदोषकोप, भूताभि-षङ्ग आदि कल्पित कारणोंको भुलाकर वास्तविक कारणको मान लेनेमें कोई बाधा नहीं रहनी चाहिये। यह तो स्पष्ट हो गया है कि जो व्यक्ति सक्षम नहीं, उनको जब विषमी जीवाणु-वाहक मादा मच्छर काटता है, तो उसकी सुण्डिका-रसके साथ इस रोगके जैव शरीरमें उतर जाते हैं, वहाँसे वह केशिकाजालके भीतर घुस कर रक्तमें पहुँच जाते हैं। यह जब मच्छरके काटते समय शरीरमें उतरते हैं, तो इनकी संख्या एक-दोमें नहीं, प्रत्युत सैकड़ों-हजारोंमें होती है। जब वह रक्त-द्रवमें पहुँचते हैं तो रक्त-कणिकाओंके साथ चिपट जाते हैं और उन कणिकाओंके शरीरको क्षतित कर उसके पेटमें घुस जाते हैं। इन जीवाणुओंका आकार रक्त-कणि-कासे बीसों गुणा छोटा होता है। वहाँ वह जब पहुँचते हैं तो रक्त-कणिकाको खा-खाकर अपना जीवनचक्र पूरा करते हैं। इनकी वृद्धिका क्रम विभाजनसे आरम्भ होता है। एक रक्त-कणिकामें एक ही जीवाणु प्रवेश करता है। कभी २ दो भी घुस जाते हैं, किन्तु क्वचित्। इनकी वृद्धि एकसे दो, दोसे चार, चारसे आठ नहीं होती। प्रत्युत एक बार ही उसका शरीर बढ़कर ८–१६, ६–१२, १४–२४ में विभक्त हो जाता है। यह एकसे अनेक रूपमें आकर जब चेतनता प्राप्त करते हैं तो रक्त-कणिकाको विदीर्ण कर बाहर निकल आते हैं। इनका रक्त-कणिकाओंसे बाहर आनेका

नियत होता है, अर्थात् इनकी अभिवृद्धि, पूर्णवृद्धि, विभाजन व वंशविस्फोट सब एक साथ एक समयमें होता है। जिस समय यह लाखों करोड़ोंकी संख्यामें एक साथ रक्तकणिकाओंको मारकर बाहर आते हैं उसके कुछ ही मिनटोंके बाद शरीमें कम्प उठता है और कम्पके १०–१५ मिनट या आधा घंटा बाद ज्वर चढ़ जाता है। ज्वरका वेग भी सम नहीं रहता, कभी तीव्र कभी कम। ज्वर उतरनेका समय भी नियत नहीं होता। इन्हीं कारणोंको देखकर इसका नाम शास्त्रकारोंने विपमज्वर दिया। यह भी माना जाता है कि विपमज्वरमें उत्तापकी[2] स्थिति सर्वथा नॉरमल नहीं होती और १२–२४–४८ घंटेके बाद फिर उसका वेग हो जाता है। ऐसी स्थिति सततज्वरमें होती है, अन्येद्यु, तृतीयकादिमें नहीं। जब उक्त लक्षण विपमज्वरके एक ओर किये जाते हैं तो दूसरी ओर सन्ततज्वरको न जाने कैसे विषमज्वरके अन्तर्गत कर लिया जाता है। विषमज्वरको विसर्गीज्वर माना गया है अर्थात् वेगके साथ चढ़कर फिर कुछ कालके बाद पसीना देकर उतरता है। ज्वर उतर जानेके बाद फिर इसी तरह ज्वर चढ़ता उतरता रहता है। इसीलिये इसे विसर्गी कहा है। किन्तु, सन्ततज्वर एक बार

---

१ यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च। वेग तश्चापि विषमः स ज्वरो विषमः स्मृतः॥ भालुकी। २ मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वमिति।

चढ़कर सात दिन, दस दिन या बारह दिन तक एकसा बना रहता है। ज्वर साधारण घटता बढ़ता है इसीलिये अविसर्गी है। सन्ततज्वरके लक्षणोंसे विषमज्वरके सामान्य लक्षण—जो भालुकीने किये हैं—बिलकुल विरुद्ध जाते हैं। एक ज्वर विषम वेगसे शीत देकर चढ़ता है, पसीना देकर उतरता है। दूसरा समवेगसे चढ़कर एक दो अंशके अन्तरसे बना रहता है और नियतकालके पश्चात् उतरता या मरणासन्न कर देता है, उसे किस तरह विषमज्वरके अन्तर्गत किया जा सकता है। सन्ततको तो अवधिबन्धीज्वर माना जा सकता है न कि विषमज्वर। ऐसी भूलोंकी ओर श्रीमान् कवि० गणनाथ सेनजीने भी वैद्योंका ध्यान आकर्षित किया है।

विषमज्वर भेद—आयुर्वेदमें संतत, सतत, अन्येद्यु, तृतीयक, चातुर्थिक—पाँच भेद हैं। किसीने चातुर्थिक विपर्यय मिलाकर छः भेद माने हैं और इन विभेदोंकी उत्पत्तिमें बतलाया है कि दोष जब रस[1] और रक्तका आश्रय लेकर कुपित होते हैं तो संततज्वर होता है। केवल रक्तका[2] आश्रय लेकर जब दोष कुपित होते हैं तो सतत होता है और मांसका[3] आश्रय लेकर दोष जब कुपित होते हैं तो अन्येद्यु होता है। इसी तरह मेद[4] धातुका आश्रय लेकर दोष जब कुपित होते हैं तो तृतीयक होता है। तथा इसी तरह

---

१ सन्तो रसरक्तस्थः। २ रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्। चरक। ३ अन्येद्युः पिशिताश्रितः। ४ मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि।

अस्थिमज्जाका आश्रय ग्रहण कर जब दोष कुपित होते हैं तो चातुर्थिक होता है। इस समयके अनुसन्धानसे इस तरहके दोष कोपकी कोई बात नहीं पायी जाती, प्रत्युत यह देखा जाता है कि विषमज्वरी जीवाणुओंकी भिन्न-भिन्न उपजातियाँ हैं।

सततज्वर उत्पन्न करनेवाले भिन्न प्रकारके जीवाणु होते हैं तथा तृतीयक, चातुर्थिकज्वर उत्पन्न करनेवाले भिन्न प्रकारके जीवाणुओंसे सततज्वर होता है उनसे तृतीयक चातुर्थिक नहीं होता। इस तरह तृतीयक, चातुर्थिकका कारण भिन्न-भिन्न धात्वाश्रय नहीं, प्रत्युत विषमी जीवाणुओंकी उपजातियाँ हैं। अन्येद्युष्कज्वर तो सतत या चातुर्थिक विपर्ययका ही एक रूप बन जाता है। २४ घंटेमें एक बार ज्वर कुछ कम होकर पुनः चढ़ जाय उसे अन्येद्युष्क कहते हैं। यह ज्वर कई बार कुछ न्यूनाधिक समयका मध्य देकर पुन. हो जाता है।

इस समयके अनुसन्धानोंसे यह देखा गया है कि उक्त तीन प्रकारके जीवाणुओंसे कई एक और मिश्रितज्वर भी हुआ करते हैं। कई रोगी ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्हें शीत देकर ज्वर हुआ उसके चार-छः घंटे या आठ-दस घंटे बाद ज्वर चढ़े पर पुनः फिर और न्यूनाधिक शीत देकर ज्वर हो जाता है। ज्ञात हुआ है कि इसका कारण भिन्न २

---

१ अस्थिमज्जगतः पुनः कुर्याच्चातुर्थिकं घोरम्।

समयमें उन जीवाणु-समूहका रक्त-कणिकाओंको मार कर रक्त-द्रवमें आना है। जब-जब वह आते हैं तब तब शीत लगकर ज्वर चढ़ता है।

यह तो निश्चित बात है कि जबतक विषमी जीवाणु-वाहक मच्छर मनुष्यको न काटे तबतक विषमज्वर नहीं होता। यहाँ यह बतला देना अप्रासङ्गिक न होगा कि जिन मच्छरोंमें विषमी जीवाणु पाये जाते हैं, उनकी अबतक तीन उपजातियाँ मिली हैं। उन उपजाति मच्छरोंमें केवल मादा मच्छरके पेटमें ही यह जीवाणु देखे जाते हैं। मादा मच्छरको सन्तानोत्पत्तिके अर्थ प्राणियोंके रक्तकी सदा बुभुक्षा बनी रहती है। इसीलिये यह रक्तकी चाहमें प्राणियोंको काटता और उनका रक्तपान करता है। रक्त आचूषणके समय रक्तको द्रव रूपमें बनाये रखनेके लिये यह अपने भीतरसे एक द्रव पदार्थ दंश स्थानमें छोड़ता है। उसी द्रवमें सैकड़ों-हजारों विषमी जीवाणु होते हैं जो शरीरमें पहुँचकर रक्त-कणिकाओं पर धावा बोलते हैं। जहाँ रक्त-कणिकाएँ मिलती हैं, उन्हें चिपट जाते हैं, और उनके पेटमें घुसकर अपना जीवनचक्र पूरा करते हैं। एक ही मादा मच्छर मनुष्यको काटता हो और एक ही बार काटता हो, सो बात नहीं है। मच्छर सारी रात जब-जब अवसर मिले काटते ही रहते हैं। फिर इन मच्छरोंमें सबके सब एक ही प्रकारके जीवाणुओंको वहन करते हों, सो भी बात नहीं। भिन्न-भिन्न

मच्छरोंके पेटमें सतत, तृतीयक, चातुर्थिक आदिके जीवाणु निवास करते हैं। मान लो, एक मनुष्यको ऐसे मच्छरोंने काटा जिनके पेटमें सततके जीवाणु थे। इन्होंने तो काटा शामको फिर रात्रिको ऐसे मच्छरोंने आकर काटा जिनके पेटमें तृतीयकके जीवाणु थे, इन दोनों प्रकारके जीवाणुओंने भिन्न-भिन्न समयमें शरीरके भीतर प्रवेश किया। इसीलिये इन दोनोंका जीवनचक्र एक ही समयमें पूरा नहीं हो सकता, उसी अन्तरसे भिन्न-भिन्न समयोंमें जाकर पूरा होगा। इसीलिये जब-जब वह जीवनचक्र पूरा करके वंश-विस्फोट करें तभी-तभी ज्वर होगा। मालूम हुआ है कि सततके जीवाणु अभिवृद्धिसे पूर्ण वृद्धितक अपना जीवनचक्र पूरा करनेमे २४ घण्टेका समय लेते हैं। तृतीयकके जीवाणु ४८ घण्टेका तथा चातुर्थिकके जीवाणु ७२ घण्टे का समय लेते हैं। इसके वाद उनका वंश-विस्फोट होता है और उसीसे ज्वर चढ़ जाता है।

एक वात और वतला देनी अप्रासंगिक न होगी कि यह मच्छर वनस्पति पत्र-रस, फल-रस पर भी अपना जीवन निर्वाह करते हैं। खीरा, फूट आदि फलों पर बैठकर उस पर जब अपनी दंशनी चुभोते हैं तो दंशनी-चोभसे उस फलमें भी रसश्रावके साथ विषमी जीवाणु उन फलोंमें जा पहुँचते हैं। उन फलोंके खानेसे भी विषमी जीवाणु मनुष्यके पेटमें जा पहुँचते हैं, वहाँसे वह चक्कर लगाते रक्तमें पहुँच जाते हैं।

और उनके भीतर घुस कर बढ़ते हैं फिर वंश विस्फोट द्वारा ज्वरका कारण बनते हैं। यह जीवाणु जब शरीरमें पहुँचते हैं तो इनकी संख्या सैकड़ों हजारोंमें होती है। यह सब शरीरमें जब एक साथ घुसते हैं तो एक साथ ही अपना जीवन चक्र आरम्भ कर देते हैं। भीतर घुसते ही वह सीधे रक्त कणसे चिपट कर उनके भीतर जा पहुँचते हैं, जो मनुष्य अक्षम होते हैं वह उनको रोक नहीं सकते। जो सक्षम होते हैं, उनमें यह जीवाणु रक्तमें घुसने ही नहीं पाते। पहिले ही मार डाले जाते हैं। जिनके शरीरमें इनकी अभिवृद्धि पूर्ण वृद्धि हो जाती है उनके शरीरमें यह एक-एक जीवाणु ८–१० से लेकर १५–२० गुणा तक एक बारमें वंश विस्तार करते हैं। जब यह प्रवृद्ध हो कर रक्तद्रवमें आतश-बाजीवत् एक साथ हजारोंकी संख्यामें निकल पड़ते हैं उस समय वह बमके गोलेवत् रक्त कणिकाओंको फाड़ २ कर बाहर निकल आते हैं, उस समय उनकी संख्या बीसों गुणा बढ़ी हुई होती है। जिस समय वह बाहर आते हैं उस समय उनके साथ जो विषमी विष उनके भीतर ही भीतर बनता रहता है वह भी उनके साथ बाहर आकर रक्तद्रवमें मिल जाता है, जो ५ मिनटसे पहिले ही सारे शरीरमें प्रसर जाता है। जीवाणु तो बाहर निकल कर फिर रक्त कणिकाओंसे चिपट जाते हैं और उनके भीतर घुसने की चेष्टा करते हैं, किन्तु विष शरीरको तथा उत्ताप नियन्त्रक केन्द्रको विचलित क

प्रभावित करता है, इसीलिये उत्ताप नियन्त्रक केन्द्रमें बाधा खड़ी हो जाती है, इसीसे एकाएक शरीरमें स्तब्धता, अंग-मर्द, जम्हाई, रोमांच आदि प्रागूरूपके चिन्ह प्रकट होते हैं। फिर एकाएक ताप नियन्त्रणमें ऐसी विषमता आती है कि शरीरकी स्तब्धता और शैथिल्यतासे उष्णता जननका क्रम ऐसा घट जाता है कि एकाएक सारे शरीरमें शीत दौड़ जाता है। कभी-कभी शीत हाथों पैरोंकी ओरसे चढ़ता है किसीको शीत मध्य शरीरसे सारे शरीरमें फैलता प्रतीत होता है और उसके साथ ही कम्प होता है। कम्प की दशा १५–२० मिनटसे आध घंटा तक रहती है, जिसके मध्य उत्ताप वृद्धि होने लगती है। ज्वर कमसे कम तीन चार घंटा अधिक से अधिक ८–१० घंटा चढ़ा रह कर फिर प्रस्वेद देकर उतर जाता है।

इस ज्वरमें कम्प आनेको पहिली दशा, ज्वर चढ़नेको दूसरी दशा तथा प्रस्वेद आकर ज्वर उतर जानेको तीसरी दशा कहते हैं।

शुद्ध और मिश्रितज्वर--यदि शरीरमें एक ही प्रकारके जीवाणु विद्यमान हों और जिनका प्रवेशकाल भी एक ही हो तो उनका चक्र एक समयमें पूरा होनेके कारण नियत समय पर ज्वर होकर उतर जाता है तथा फिर नियत समय पर ही चढ़ता है। सतत होगा तो वह २४ घंटेके बाद चढ़ेगा। तृतीयक होगा तो वह ४८ घंटेके बाद

चढ़ेगा। चातुर्थिक होगा तो वह ७२ घंटेके बाद चढ़ेगा, ऐसे ज्वरको शुद्ध ज्वर कहते हैं। शुद्ध ज्वर प्रायः पूर्ण विसर्गी होते हैं। यदि कहीं शरीरमें एक ही प्रकारके जीवाणु दो भिन्न कालमें प्रवेश करें और उन दोनोंके संघ भिन्न भिन्न समयोंमें अपना जीवनचक्र पूरा करते हों तो उनसे जो ज्वर होगा वह अर्द्धविसर्गी या अविसर्गी होगा।

हो सकता है कि एक व्यक्तिके शरीरमें सततके कुछ जीवाणुओंका प्रवेश सायंकालके समय हुआ हो और कुछ जीवाणुओंका प्रवेश मध्यरात्रि या पश्चात् रात्रिमें हुआ हो। प्रवेशकालमें जितने घंटेका अन्तर होगा उन दोनोंका जीवन-चक्र भी उतने ही अन्तरके नियतकालमें पूरा होगा। क्योंकि अभिवृद्धि, पूर्ण वृद्धिका समय तो दोनों ही संघोंने २४–२४ घंटेका लेना है। इसीलिये प्रथम संघका वंश विस्फोट जिस समय होगा उसके ठीक उतने ही घंटे बाद दूसरेका वंश विस्फोट होगा। जब जब वंश विस्फोट होकर जीवाणु व उनका विष बाहर आवेगा तब तब ज्वर होगा। ऐसे कारणोंसे ही एक ज्वर जो पहिले चढ़ चुका है अभी उतर नहीं पाता कि दूसरा ज्वर फिर चढ़ जाता है। इसीलिये ऐसे ज्वर अर्द्धविसर्गी या अविसर्गी होते हैं। यह मिश्रित ज्वर कहलाते हैं। ऐसे ज्वरोंमें यह आवश्यक नहीं कि एक ही प्रकारके ज्वरके जीवाणुओंका मिश्रण हो। कई बार शरीरमें सततके जीवाणु विद्यमान होते हैं पश्चात् तृतीयकके

या चातुर्थकके आ घुसते हैं। कई वार एक ही प्रकारके जीवाणु भिन्न भिन्न समयोंमें तीन वार तक प्रवेश करके ज्वरका कारण बनते हैं इसीलिये इनसे तृतीयक चातुर्थिक विपर्ययके ज्वर बनते हैं।

जीवाणुकेन्द्र—चूंकि विषमी जीवाणुओंका शरीरमें निवास व जीवनचक्र रक्तकणिकाओंमें पूर्ण होता है इसी लिये इनके रक्तवासी होनेके कारण इस ज्वरमें रक्तकणिकाओंका क्षय बहुत अधिक होता है। एक वार यदि पहिले आक्रमणमें दस हजार रक्ताणु आक्रान्त होंगे तो दूसरी वारके आवेगमें एक लाखसे भी ऊपर हो जाते हैं। तीसरी वारमें तो उनकी संख्या करोड़के समीप जा पहुँचती है। जैसे-जैसे इस ज्वरके आवेग आते जाते हैं वैसे वैसे मनुष्य रक्तहीन-पीला, निरतेज-सा होता चला जाता है। कुछ यह पीतता रक्तरंजक द्रवोंकी विकृतिसे भी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण कई बार कामलाका रूप वनते देखा जाता है।

शरीरमें जीवाणुओंका वृद्धिकाल—जीवाणु शरीरमे घुस कर जब तक अपनी पूर्णवृद्धि नहीं कर लेते इससे शरीरमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता, न मनुष्यको रोगकारक शक्ति का बोध होता है। कोई विषमी जीवाणु मनुष्य शरीरमें प्रवेश करके कितने समयमें पूर्ण प्रवृद्ध होते हैं? इसको देखा गया है। ज्ञात हुआ है कि पूर्ण वृद्धिके शीघ्र या देर बाद पूरा होनेमें शरीरका उत्ताप सहायक या बाधक

होता है। यदि शरीरका उत्ताप उन जीवाणुओं की वृद्धिके अनुकूल हो तो सततकी जीवनवृद्धिका चक्र ८ दिनमें पूरा होता है। यदि प्रतिकूल हो तो १०–१२ दिन लग जाते हैं। इसी तरह तृतीयकमें जल्दीसे जल्दी ८ दिन, देरमें २२-२४ दिन लग जाते हैं। इसी अन्तरसे चातुर्थिक जीवाणु भी दिन ले लेते हैं। यह वृद्धिकाल जीवाणु प्रवेशके पश्चात्‌का होता है।

मुख्य लक्षण—समस्त विषम ज्वरोंमें निम्न लिखित मुख्य लक्षण देखे जाते हैं।

(१) शीत लगनेसे पूर्व जम्हाई, अंगड़ाई, वमनेच्छा, आलस्य, शिर भारी और शरीर स्तब्ध सा होता है।

(२) शीत लगकर ज्वर चढ़ता है। किसीको अधिक किसीको साधारण शीत लगता है।

(३) सततमें साधारण शीत लगता है। तृतीयक चातुर्थिकमें प्रायः अधिक शीत लगता है।

(४) सततमें कभी-कभी बिना शीतके भी ज्वर चढ़ जाता है। किन्तु तृतीयक चातुर्थिकमें ऐसा नहीं होता।

(५) ज्वर वेगकालमें वमन, तृषा, व्याकुलता सिरदर्द, कमरदर्द प्रायः होते हैं। किसी किसीको सर्वांग पीड़ा भी होती है।

(६) प्रायः विष्टब्धता होती है। किसीको रेचन भी लगते हैं।

(७) मुँहका स्वाद कटु हो जाता है पर जिह्वा मलीन नहीं होती।

(८) जो वमन आती है वमनमें प्रायः पित्तपात होता है।

(९) दो चार आवेगोंके बाद प्लीहा बढ़ने लगती है। किसी-किसी का यकृत भी बढ़ जाता है। बढ़ी हुई प्लीहा प्रायः भंजनशील होती है।

(१०) तीव्र ज्वर हो तो प्रायः कामला भी हो जाता है।

(११) पसीना आकर ज्वर उतरता है।

(१२) मूत्रका वर्ण लाल पीला, गहरे वर्णका भारी होता है और मात्रामें कम उतरता है।

(१३) ज्वर प्रायः विसर्गी होता है। अर्थात् उतर कर फिर चढ़ता है।

(१४) मिश्रित ज्वर अर्द्धविसर्गी होते हैं। किन्तु बहुधा उपरोक्त लक्षण मिलते हैं।

(१५) ज्वर उतर जानेके पश्चात् रोगी शिथिल, सुस्त, होता है, और उसका प्रायः सोनेको जी चाहता है। सो लेनेके पश्चात् शरीर हल्का प्रतीत होता है।

(१६) रक्त परीक्षामें जीवाणु मिलते हैं।

(१७) ज्वर मुक्तिके समय प्रायः ओष्ठकोण, नासाकोण पक जाते हैं। जिसे प्रचलित भाषामें ज्वर हगगया, हट-गया कहते हैं।

यह चिह्न इनके मुख्य लक्षणोंमेंसे हैं। इन लक्षणोंको देखकर निदानमें भूलकी सम्भावना नहीं रहती। रोग पहचाना जाता है।

परन्तु, दो जातिके जीवाणुओंका ज्वर मिश्रित हो और वह जब अविसर्गी या अर्द्धविसर्गी हो, तथा बिना शीतके ज्वर हो जाय तो उस समय वैद्यको निदान करनेमें अपनी बुद्धि खर्च करनी पड़ती है। यदि वैद्य विचारसे काम ले और ज्वरके चढ़ाव उतारके समयको ठीक ठीक देखता रहे तो रोग निदान सरलतया हो जाता है।

इस ज्वरका प्रायः मन्थरज्वर, कालज्वरसे भ्रम होता है। कालज्वर बङ्गाल, बिहार, आसाम, मद्रासमें ही पाया जाता है, इसलिये अन्य प्रान्तवालोंको इसके भ्रमकी सम्भावना नहीं होनी चाहिये। हाँ, यदि विषमज्वर अविसर्गी हो रहा हो तो मन्थरज्वरका भ्रम अवश्य हो जाता है। उस समय निम्नलिखित अन्तर पर ध्यान रखना चाहिये।

भेददर्शक सारणी

अङ्ग लक्षण	विषमज्वर	मन्थरज्वर
ज्वर	ज्वर नियत समय पर पसीना देकर उतरता है। और चढ़ता	ज्वर चढ़ कर उतरता नहीं। हाँ, आधी रात्रिके बाद २—३ अंश

अङ्ग लक्षण	विषमज्वर	मन्थरज्वर
	है। इसके उतार चढ़ावका समय बद-लता रहता है।	तक—प्रभात होने तक—घट जाता है। फिर मध्याह्नकाल आने पर बढ़ जाता है। वह क्रम एकसा चलता रहता है।
दर्द	ज्वर होने पर प्रायः वेगवान् सिर, कमर व शरीरमें दर्द होता है। किसी-किसीके सर्वाङ्गमें।	दर्द साधारण होता है। जो प्रायः अधिक समय तक बना रहता है। या दर्द होता ही नहीं।
प्रस्वेद	इसमें प्रस्वेद आता है।	प्रस्वेद बिलकुल नहीं आता।
निद्रा	ज्वर कालमें निद्रा नहीं आती। व्याकुलता अधिक रहती है। ज्वर उतरने पर नींद आती है, रोगी खूब सोता है।	ज्वरके आरम्भसे ही तन्द्रा बनी रहती है। बालक तो प्रायः आँख बन्द किये पड़े रहते हैं। व्याकुलता हो तब भी तन्द्राकी प्रधानता देखी जाती है।
जिह्वा	जिह्वा प्रायः साफ लाल होती है, मलिनता	जिह्वा पर आरम्भसे ही प्रायः श्वेत पतली

अङ्ग लक्षण	विषमज्वर	मन्थरज्वर
	आती भी है तो साबुनकी-सी रहेसदार।	मलिनता चढ़ी होती है, जिसके मध्यमें जिह्वाकुर जगह-जगह दिखाई देते हैं। किनारे प्रायः लाल रहते हैं।
कम्प सर्दी	प्रायः सर्दी या कम्प लग कर ज्वर चढ़ता है, कम्प वेगवान होता है।	बिना सर्दी लगे चढ़ जाता है। कभी-कभी साधारण सर्दी लगती है। या रोमाञ्च होता है।
पेटकी स्थिति	दबानेसे नाभिके पास क्षुद्रान्त्रस्थानमें कोई दर्द नहीं होता है।	नाभिके आसपास दबाने पर दर्द होता है।
वमन	वमन आती है, प्रायः पित्तकी वमन आती हैं।	वमन नहीं आती। किसी-किसीको मचली होती है। वमन आवे भी तो पित्त नहीं निकलता।
तृषा	तृषा बहुत लगती है।	तृषा बहुत कम लगती है।
त्वचा	साधारण रूक्ष होती है।	विशेष रूक्ष होती है।

अङ्ग लक्षण	विषमज्वर	मन्थरज्वर
राजिका दर्शन	इसमें त्वचा पर कोई दाने नहीं निकलते।	यदि शीत वीर्य प्रधान औषध न दी गई हो तो—सप्ताहान्तमें मुक्तावत् गले पेट पर दाने निकलते हैं।
प्लीहा यकृत	कई वारके ज्वरावेगसे प्रायः प्लीहा बढ़ती है।	पुराने रोगमें प्रायः यकृत बढ़ जाता है, प्लीहा कचित्।

उक्त अन्तर इतनी भिन्नता दर्शाते हैं, जिनके द्वारा दोनोंका निदान होना कठिन बात नहीं रहती। इसके साथ ही वैद्य ऋतु, कालकी ओर देखता रहे तथा फैली हुई बीमारीका पता लेता रहे तो उन संचारी व्याधियों द्वारा भी निदानमें सहायता मिल जाती है।

सतत और द्वित्र ज्वरके लक्षण—मान लो, किसी व्यक्तिके शरीरमें सतत ज्वरी जैवोंका प्रवेश हुआ। अभी उनका जीवनचक्र चल रहा हो, ऐसे समय मच्छरदंश द्वारा और सतत ज्वरके जैवोंका या तृतीयक ज्वरके जैवोंका शरीरमें प्रवेश हो जाय तो इनके जीवनचक्रका समय पूर्व विद्यमान सततज्वरी जैवोंसे बिलकुल भिन्न चलेगा। पहिले जैवोंने अपने जीवनचक्रको पूरा करनेके लिये जितना समय

लिया है उतना ही दूसरोंने भी लेना है। दोनोंके समयमें यदि ८ घंटेका अन्तर हो तो पहिले जैवोंकी पूर्ण वंशवृद्धि हो जाने पर जब वंश विस्फोट होगा तो दूसरे जैवोंका वंश विस्फोट ठीक इनके ८ घंटे बाद होगा। जब वंशविस्फोट होता है तो उसी समय ज्वरावेग होता है। एक ज्वरका आवेग अभी समाप्त नहीं हुआ कि दूसरेका वंशविस्फोट होते ही फिर दूसरा ज्वरावेग होता है। अर्थात् चढ़े ज्वर पर पुनः दूसरा ज्वर चढ़ जाता है। अब इस ज्वरने उतरनेके लिये फिर ८-१० घंटे लेने हैं। इस मध्यमें इनका कोई और संघ भिन्न समयमें प्रवेश कर चुका हो और उसका वंश विस्तार हो रहा हो तो, जब इस ज्वरके मध्य या अन्तमें उनका वंश विस्फोट होगा तब फिर ज्वरावेग होगा। इस तरह के क्रमसे ज्वर कई-कई दिन तक अविसर्गी बना रह सकता है और ऐसे ज्वरोंको देख कर अन्य प्रकारके ज्वर होनेका भ्रम हो सकता है।

द्वित्व जीवाणुओंके शरीरमें प्रवेशसे दो, दो, तीन, तीनके संघसमूहकी जब एक शरीरमें आगे पीछे वृद्धि होती है तो इसी कारण मिश्रितज्वर हो जाते हैं उनके निदानमें भ्रमकी सम्भावना सदा बनी ही रहती है।

सततका रूप अन्येद्यु—यदि शरीरकी क्षमता शक्ति निर्बल हो और ऐसी स्थिति होने पर शरीरमें सतत-ज्वरी जैवोंका प्रवेश हो जाय और उनका जीवनचक्र ठीक

समय पर पूरा हो रहा हो तो उन जैवोंका वंश विस्फोट जब होगा तब वह ज्वर अपने लक्षणोंसे लक्षित होकर ठीक २४ घंटेमें उतर जायगा और अगले दिन फिर उसी क्रमसे उसी समय ज्वर होगा। ऐसे सततके रूपको अन्येद्यु नाम दिया जाता है। यह विसर्गी होता है।

इसी तरह कभी कभी तृतीयकके द्वित्वसे भी अन्येद्यु ज्वर बन जाता है। वह किस तरह ? सुनिये ! तृतीयकके जीवाणु जब दो भिन्न समयोंमें २०—३० घंटेका अन्तर देकर शरीर पर आक्रमण कर बैठें जिनका जीवनचक्र ४८ घंटेके अन्तरसे पूर्ण होता है तो एक ज्वरावेगके २४ घंटे बाद-दूसरा वंश विस्फोट होते ही पुनः ज्वरावेग होगा। इसीलिये यह अन्येद्यु होगा। किन्तु किसी तरह आक्रमणका समय कुछ अधिक बढ़ जाय तो विसर्गी होगा, वरना अर्द्धअविसर्गी होगा।

तृतीयक और तृतीयक विपर्यय— तृतीयकज्वरी जीवाणुओंका जीवनचक्र ४८ घंटेमें पूर्ण होकर वंश विस्फोट हुआ करता है इसीलिये इसका ज्वरावेग तीसरे दिन ४८ घंटेके बाद होता है। किन्तु, कई रोगियोंमें इसके विपरीत बात देखी जाती है। ज्वरावेग ३६ घंटा रह कर कुल १२ घंटा ज्वर उतरा रहता है। ऐसेको तृतीयक विपर्यय कहते हैं। १२ घंटा ज्वर उतरा रहनेकें बाद ही चढ़ता है। इसलिये अन्य ज्वरोंसे इसका भ्रम नहीं हो सकता। इसमें कीटाणु १२ घंटेके अन्तरसे दो बारमें शरीरको आक्रान्त करते हैं।

चातुर्थिक और चातुर्थिक विपर्यय--इसके जीवाणु अपना जीवनचक्र ७२ घंटे में पूरा करके वंश विस्फोट करते हैं। इसीलिये इसका ज्वरावेग ७२ घंटेके बाद होता है। कभी-कभी किसी रोगीमें यह देखा जाता है कि उसे दो दिन लगातार ज्वर बना रहकर तीसरे दिन उतर जाता है। फिर २४ घंटेका अवसर देकर ज्वरावेग होता रहता है। ऐसे ज्वरको चातुर्थिक विपर्यय माना जाता है। इसमें भी द्वित्व होता है, जिसमें २४ घंटेका अन्तर रहता है।

इन तृतीयक चातुर्थिक विपर्ययमें द्वित्व जीवाणु एक संघमें प्रवेश करते हैं। इसीलिये उन दोनोंका वंश विस्फोट आगे पीछे लग कर चलनेके कारण ज्वरमें द्वित्व आता है।

इन समस्त ज्वरोंमें शीत लग कर ही ज्वर चढ़ता है और विसर्गकालमें प्रस्वेद आता है। ज्वरके अन्य लक्षण भी विद्यमान होते हैं। यह ज्वर इतने निभ्रम होते हैं जिनका जानना कठिन नहीं।

तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर प्रायः सौम्य है। चातुर्थिकसे तृतीयक अधिक सौम्य होता है और अनेक बार टोटके टोनेसे चला जाता है, पर चातुर्थिक इसके विरुद्ध जाता है। साधारणतः पीछा नहीं छोड़ता, वर्षों उसके आवेग होते रहते हैं। आरम्भमें तो इसके आवेगसे रक्त कणिकाओंका अधिक नाश होता है किन्तु, ज्वरके आवेग अधिक

कालतक चलते रहें तो रक्ताणुओंकी उत्पत्तिका क्रम इतने वेगसे चलता है कि उस क्षयकी पूर्ति साथ-साथ होती चली जाती है।

शारीरिक हानियाँ—प्रत्येक विषमज्वरी जीवाणुओंका केन्द्र रक्तकणिकाएँ होती हैं उनमें यह घुसकर अपना जीवनचक्र पूर्ण करते हैं और वह वंश विस्फोटके समय उन कणिकाओंको विदीर्ण कर बाहर आते हैं इसीसे रक्ताणुओंका अत्यधिक विनाश होता चला जाता है। ज्वरावेगसे इनके नाशकी संख्या एक बारसे दूसरे बारमें शतगुणी सहस्रगुणी तक क्रमसे बढ़ती जाती है, इसीसे शरीर प्रत्येक ज्वरावेगके पश्चात् पीला—रक्तहीन—होता चला जाता है। एक ओर जब रक्ताणु टूटते हैं और उनके नाशसे रक्त-रंजक पदार्थोंकी मात्रा रक्तद्रवमें बढ़ती है तो उसको नियन्त्रित करनेका काम प्लीहाको करना होता है।

प्लीहा रक्तके रञ्जक पदार्थोंका आचूषण करती हुई उन विवर्द्धित द्रव्योंको अपने भीतर संग्रह करने लग जाती है, इसीसे प्लीहावृद्धि होती है। जैसे-जैसे ज्वरावेग होते हैं वैसे-वैसे इसकी वृद्धि होती चली जाती है। इन रञ्जक द्रव्योंके संग्रह होनेके कारण ही प्लीहाका वर्ण विवर्ण भूरा, काला-सा हो जाता है। यदि इन रञ्जक द्रव्योंका विसर्गीकरण होता रहे तो प्लीहा घटती-बढ़ती तथा नरम रहती है,

यदि इनका विसर्गीकरण न हो तो प्लीहाकी सजीव रचनामें परिवर्त्तन आना आरम्भ हो जाता है और उसके सजीव-कोष सौत्रिक तन्तुओंमें परिवर्तित होने लगते हैं इसीसे प्लीहा कठिन पड़ जाती है तथा उसका लचीलापन भी घट जाता है। यहाँतक कि प्लीहा अर्द्धभंजनशील स्थितिको प्राप्त कर लेती है। कई बार ऐसी ही प्लीहाएँ थोड़ी-सी चोटसे विदीर्ण हो जाती हैं और रोगी मर जाता है। जब प्लीहामें काठिन्य आजाय उस समय यह समझ लें कि इसमें सौत्रिक तन्तु बन चुके हैं।

कई बार इस ज्वरमें प्लीहासे भिन्न यकृत भी प्रभावित होता है और पित्त-प्रणालीमें क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इसीसे कई रोगियोंको एकाएक कामला हो जाता है। अर्थात्—पित्तप्रणालीके क्षुभित होनेसे पित्तका अनियमित स्राव होता है, वह पित्त अन्त्राचूषण क्रियासे आचूषित होकर रक्तमें जा मिले तो कामलाका निदर्शन होता है।

यह स्थिति प्रायः सततज्वरमें देखी जाती है। सतत-ज्वर समस्त विषमज्वरोंमें बलवान् अंगाभिघाती सिद्ध हुआ है। इस ज्वरके कारण जितनी अधिक शरीरके आन्तरिक अंगोंमें विकृति आती है, उतनी अन्य विषमी जीवाणुओंसे नहीं देखी जाती। इसका कारण यह है कि सततज्वरी जीवाणुओंसे जो ज्वर होता है वह प्रायः वेगवान् होता है।

इसमें प्रायः उत्तापकी मात्रा १०५ या इससे ऊपर तक बढ़ती देखी जाती है। इसी ज्वरवृद्धिसे शरीरकी अधिक हानि होती है। इसीलिये इस ज्वरको घातकज्वरके नामसे भी पुकारते हैं।

कराल विषमज्वर

यह ज्वर अधिकतर बंगाल, आसाम आदिमें ही पाया जाता है। प्रायः पर्वतमालाकी तराइयोंमें जहाँ विषमज्वरका अधिक प्रकोप होता है, इसके भी केस पाये जाते हैं। इस ज्वरका उल्लेख आयुर्वेदग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

कारण—जिन व्यक्तियोंको विषमज्वर होता है, उनमें से किसी-किसीको यह ज्वर हो जाता है। जिस व्यक्तिको यह कराल विषमज्वर हो उसकी रक्त-परीक्षासे देखा गया है कि उसके शरीरमें इस ज्वरके पूर्व विषम-ज्वरी जीवाणुओंकी काफी उपस्थिति पाई जाती है। आक्रमणकालमें भी इनकी काफी संख्या मिलती है। इन जीवाणुओंकी विद्यमानतासे यह धारणा हो जाती है कि इस रोगका कारण भी विषमी जीवाणु होंगे। परंतु, अनुसंधानसे ज्ञात हुआ है कि इस रोगका कारण इन विषमी जीवाणुओंसे भिन्न हैं। इनके द्वारा कोई ऐसा विष उत्पन्न होता है जिससे रक्त-कणिकायें मरकर रक्तद्रवमे घुलती चली जाती है।

कुछ व्यक्तियोंके विचार हैं कि सतत ज्वरमें कुनैनके सेवनसे रक्तद्रवमें एक विशेष विषाक्त स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे रक्तमें कुछ ऐसे रसायनिक पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है जिनके कारण रक्त कणिकाएँ द्रवीभूत होने लगती हैं। इसीसे रुधिरजनकी मात्रा रक्त द्रवमें अधिक बढ़ जाती है। और इस रुधिरजनकी काफी मात्रा मूत्रके साथ जाने लगती है। आरम्भमें मूत्र अधिक आता है और धीरे-धीरे मूत्रका वर्ण काला, भूरा, गाढ़ा काफी वर्णका हो जाता है। साथ-साथ मूत्रकी मात्रा घटती जाती है। कभी-कभी मूत्र की मात्रा इतनी कम हो जाती है कि मूत्रावरोध होता है और सलाईसे मूत्र निकालने पर बहुत कम मूत्र उतरता है।

लक्षण—लक्षण भी इसमें प्रायः विषमज्वर के-से होते हैं। इसमें भी जब उक्त रोगके जीवाणुओंका वंश विस्फोट होता है तो उस समय एकाएक सर्दी लग कर उसी तरह ज्वर होता है। जैसे—साधारण विषमज्वर होनेके समय सिरदर्द, कमरदर्द, हाथ पैरोंमें पीड़ा, वमन, वमनेच्छा, तृषा आदिके समस्त उपद्रव वही होते हैं जो विषमज्वरमें पाये जाते हैं। इसमें ज्वर शीघ्र ही तीव्रतर हो जाता है। कभी-कभी देखते-देखते १०४ से १०५—६—७ तक जा पहुँचता है। तथा पित्तयुक्त वमन, रेचन, आमाशयमें दर्द, व्याकुलता, तृषा आदिके उपद्रव बढ़ जाते हैं।

सबसे बड़ी बात इस ज्वरावेगमें यह होती है कि पहिले

ही आवेगमें अत्यधिक रक्तकणोंका नाश हो जाता है। रुधिर जन ओषो-रुधिरजन आदिकी मात्रा रक्तद्रवमें इतनी बढ़ जाती है कि जिसके प्रभावसे यकृत, प्लीहा, पित्त, सब काले हो जाते हैं। प्रायः कामला हो जाता है, प्लीहा और यकृत बढ़ जाते हैं। ज्वर यदि तीव्र हो तो रोगीकी पाँच सात दिनमें ही मृत्यु हो जाती है। कई रोगियोंके स्रोतोंसे रक्तश्राव भी होता है। प्रायः यह ज्वर असाध्य होता है। मेरा तो मत है कि यह ज्वर विषमज्वरी जीवाणुओंके विष तथा कुनैन विष आदिके प्रभावसे रक्तमें कोई ऐसी विषाक्त वस्तु उत्पन्न हो जाती है जिसके प्रभावसे रक्तकणिकाएँ विगलित होती हैं और रक्तनाशके साथ ही समस्त उपद्रव उठ खड़े होते हैं। ऐसी भयंकर व्याधि बंगाल प्रान्त के कुछ भागोंमें ही है। दूसरे यह संचारी नहीं। क्योंकि यह एक संकर व्याधि है।

कालज्वर

यह एक भिन्न प्रकारका जीवाणुजन्य रोग है। और उक्त ज्वरवत् बङ्गाल, आसाम, बिहार, ब्रह्मा, मद्रासके कुछ भागमें ही पाया जाता है। उक्त प्रान्तोंमें यह होता सैकड़ों वर्षोंसे है। किन्तु, इसे भी चिकित्सक विषमज्वरका ही एक भेद मानते चले आते थे। १९०३ में आकर मिस्टर लीशमन और डोनोवन साहबने अनुसन्धान कर पता निकाला

कि इसके जीवाणु विषमज्वरके जीवाणुसे भिन्न जातिके हैं। इन जीवाणुओंके शरीरमें प्रवेशसे कालज्वर होता है।

जीवाणु प्रवेश मार्ग—यह जीवाणु किस आधार द्वारा शरीरमें पहुँचते हैं? बड़ी खोजोंके पश्चात् मालूम हो सका है। वास्तवमें उस प्रान्तमें एक प्रकारकी भूरीसी घरेलू मक्खी होती है, जो साधारण मक्खियोंसे भिन्न तथा इनसे छोटी होती है। वह मक्खी प्रायः अँधेरे स्थान, सीलावदार जगहमें ज्यादा रहना पसन्द करती है और रात्रिको सोते समय मनुष्योंको काटती है। इसके दंशन द्वारा कालज्वरके जीवाणु मनुष्य शरीरमें उतर कर रोगका कारण बनते हैं। देखा गया है कि यह मक्खी प्रायः रात्रिको ही निकलती है, तथा देशान्तरित कम होती है इसी लिये यह रोग एक प्रकारसे सीमित रहता है। क्योंकि इस मक्खीका प्रसार आसपासके स्थानों तक ही पाया जाता है। प्रायः जिस घरमें यह रोग एक व्यक्तिको हो जाता है तो काल पाकर अन्योंको भी हो जाता है, इसका कारण यही है कि वह मक्खी जब कभी किसी और को काटती है तभी दूसरा उस रोगका आखेट होता था। यदि कहीं यह रोग भी मच्छरोंके काटनेसे फैलने वाला होता तो यह कुछ प्रान्त तक सीमित न रहता। विषमज्वरवत् सारे भारतमें फैल जाता।

सम्प्राप्ति—देखा गया है कि इसके जीवाणु जब शरीरमें

प्रवेश करते हैं, तो इनका जीवनचक्र भी विषमज्वरी जीवाणुओंवत् चलता है। पर, इन जीवाणुओंका केन्द्र रक्ताणु नहीं है इनका केन्द्रस्थल यकृत, प्लीहा और रक्तवाहिनीके अन्तस्थ सजीव कोष होते हैं। यह रक्तमें पहुँच कर रक्त परिभ्रमणमें घूमते हुए अपने केन्द्रस्थलमें पहुँच कर वहाँके सजीव कोषोंमें घुस जाते हैं और वहाँ वह अपनी अभि-वृद्धिसे पूर्ण वृद्धितक जीवनचक्र पूरा करते हैं, किन्तु इन सबोंका जीवनचक्र विषमज्वरी जीवाणुओंवत् एक समयमें ही पूरा नहीं होता, प्रत्युत आगे पीछे चलता रहता है। आगे पीछे जब जितने जीवाणु अपना जीवनचक्र पूरा कर लेते हैं, उनका वंश विस्फोट भी विषमज्वरी वंश विस्फोट-वत् होता है। वह जीवाणु रक्तद्वारा शरीरमें फैलकर अनेक अवयवोंके अन्तस्थ जीवकोषोंमें फिर घुस जाते हैं, और वहाँ वह फिर अपना जीवनचक्र पूरा करते हुए वंश-विस्तार करते रहते हैं, इस तरह इनका क्रम जारी रहता है। इन जीवाणुओंके प्रवेशकालसे कितने दिन पश्चात् रोगका रूप प्रकट होता है, इसकी अवधि ठीक-ठीक अभी-तक मालूम नहीं हो सकी। किन्तु अनुमान है कि १५ से २१ दिनके भीतर रोगका रूप प्रकट हो जाता है।

मुख्य लक्षण—रोगका रूप किसीमे अकस्मात्, किसमें धीरे-धीरे प्रकट होता है।

(१) आरम्भमें सर्दी लगकर कँपकपीके साथ ज्वर

होता है। पहिले दिन ज्वर १०० अंशके लगभग हो तो अगले दिन १-१॥ अंश तक बढ़ जाता है। दूसरे दिन २-२॥ अंश तक बढ़ जाता है।

(२) रात्रिको प्रस्वेद देकर ज्वर कम हो जाता है। किन्तु उत्ताप नार्मल नहीं होता। दो चार घंटेके बाद या दूसरे दिन सर्दी लगकर फिर ज्वर हो जाता है।

(३) सिर दर्द साथ होता है।

(४) रोगी ज्वर होने पर भी काम-काज करता रहता है। अधिक निर्बलता अनुभव नहीं करता। ज्वर चढ़ता उतरता कई-कई मास लगातार चला जाता है।

(५) शरीरमें रक्तकी कमी होती है किन्तु, विषम-ज्वरकी अपेक्षा न्यून।

(६) धीरे-धीरे शरीर क्षीण होता जाता है। विषम-ज्वरवत् जल्दी क्षीण नहीं होता।

(७) धीरे-धीरे प्लीहा और यकृत बढ़ते हैं। जो स्पर्शसे कठिन प्रतीत होते हैं।

(८) धीरे-धीरे त्वचा पर नीलता लिये काले वर्णके धब्बे दिखाई देने लगते हैं। विशेष रूपसे मुख, मस्तक, हथेलियों पर। इस श्याम वर्णकी उत्पत्तिके कारण ही बङ्गालमें इसका नाम कालाआजार अर्थात् त्वचाको काला कर देनेवाला कष्ट कहते हैं।

(९) इसमें मसूड़े नरम होकर उनसे रुधिर जाने लगता है, अन्य श्रोतोंसे भी रक्तश्राव होता है।

(१०) भूख ठीक तौर पर लगती है पर आध्मान कभी-कभी हो जाता है। प्रायः आरम्भमें कोई पचन दोष नहीं दीखता। धीरे-धीरे पाचनशक्ति निर्वल होती चली जाती है।

(११) जिह्वा प्रायः स्वच्छ निरोगियों जैसी होती है।

(१२) ४–६ मास बाद जलोदर, कठोदर, आध्मानादि उपद्रव हो जाते हैं। साथमें हाथों पैरों पर शोथ भी आ जाता है।

आरम्भमें एकाएक इस रोगका बोध नहीं होता। प्रायः चिकित्सक सतत ज्वर समझ लेते हैं किन्तु, ध्यानसे इस ज्वरके चढ़ाव उतारको देखा जाय तथा रात्रिको पसीना आकर ज्वर उतरने का चिह्न बराबर मिलता रहे तो सततसे इसे भिन्न समझना चाहिये। यह ज्वर जब एक बार होता है तो महीनों बराबर उतरता चढ़ता रहता है। कभी-कभी दो दो चार-चार मास बीचमें मुक्त भी हो जाता है। इसके बाद फिर आवेग होता है। इस तरह रोगीको बुरी तरह रगड़ता हुआ अत्यन्त निर्वल कर देता है। अन्तमें रोगीको फुफ्फुस प्रदाहीज्वर, क्षय आदि कई दूसरे रोग लग जाते हैं जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है।

निदानभ्रम—सबसे अधिक भ्रम विषमज्वरका होता है, पश्चात् मन्थरज्वरका, फिर वातबलासकका। किन्तु

थोड़े ही दिन बाद इसका रूप जब स्पष्ट होने लगता है तो भ्रम जाता रहता है। इस रोगका अधिक वर्णन इसलिये नहीं दिया क्योंकि यह एक प्रान्तिक व्याधि है और कुछ सीमित देशोंमें ही पाई जाती है। हमारे ग्रन्थोंमें मकरी और सन्तोषी सन्निपातके जो लक्षण बताये हैं इससे कुछ मिलते हैं देखो पूर्वार्द्ध पृ० ४६।

मन्थरज्वर

इतिहास—यह व्याधि कोई आजसे १५० वर्ष पूर्व पंजाबके पश्चिमी प्रान्तोंमें कहीं-कहीं पाई जाती थी। भारतके अन्य प्रान्तोंमें इसका चिह्न तक न था। धीरे-धीरे यह फैलते-फैलते आज सारे भारतमें फैल गई है। फिर भी मद्रास प्रान्तमें इसका प्रकोप अब भी बहुत कम है। बहुत ही कम केस इसके वहाँ मिलते हैं। पंजाब, सिन्ध, राजपूतानामें तो यह इतनी व्यापक हो रही है कि वहाँ बारहो महीने इसका प्रकोप देखा जाता है। अन्य प्रान्तोंमें अधिकतर इसका प्रकोप या संचार वसन्त, वर्षा और शरद ऋतुमें होता है।

आयुर्वेदकी प्राचीन पुस्तकोंमें तो इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। वास्तवमें उस समय यह भारतमें होती ही नहीं थी। सबसे प्रथम इसका उल्लेख योगरत्नाकरके लेखकने अपने ग्रन्थमें किया है। यूनानी चिकित्सा-ग्रन्थोंमें

इसका वर्णन विस्तारके साथ दिया हुआ मिलता है। उन ग्रन्थोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि यह व्याधि मिश्र, ईरान, यूनान, टर्की आदि देशोंमें काफी समयसे होती आ रही है। यवनोंके आगमनकालमें उनके साथ ही भारतमें आई, ऐसा प्रतीत होता है।

कारण—जो कारण प्राचीन चिकित्सकोंने इसके बतलाये हैं वह केवल अनुमान मात्र थे। आधुनिक अनुसन्धानसे ज्ञात हुआ है कि यह व्याधि भी जैवी है। और वह मन्थरी कीटाणुओंके शरीरमें प्रवेश होने पर ही उत्पन्न होती है। जबतक शरीरमें मन्थरी कीटाणुओंका प्रवेश न हो यह बीमारी होती ही नहीं।

एलोपैथीमें टाइफाइड नामक जिस व्याधिके साथ इसको मिलाया गया है वास्तवमें उसके कीटाणुसे इसके कीटाणुमें अन्तर है। यद्यपि हैं यह भी शलाकाकार उसी वर्गके कीटाणु, तथापि उसकी उपजातिमेंसे हैं। और इन दोनोंसे उत्पन्न व्याधिके रूपमें काफी भिन्नता होती है।

मन्थरज्वर व टाइफाइडज्वर-भिन्नता द्योतक सारणी

लक्षण	मन्थरज्वर	टाइफाइडज्वर
रोग कहाँ अधिक होता है	भारत, मिश्र, ईरान, फारस आदिमें अधिक होता है।	इटली, जर्मनी, इंगलैंड आदि योरुप देशोंमें अधिक होता है।

लक्षण	मन्थरज्वर	टाइफाइडज्वर
किसको होता है	प्राय: १५ वर्ष तकके बच्चोंको अधिक होता है।	जवानोंको अधिक होता है। प्राय: १५ से २५ वर्ष तकके नव-युवकोंको।
कितनी बार होता है	एक बार होकर २–३ वर्ष बाद फिर होते देखा जाता है।	एक बार होकर फिर नहीं होता।
तन्द्रा	आँख- मींचे चुप-चाप रोगी पड़ा रहता है। यह मुख्य चिह्न प्राय: शत-प्रतिशत बालकोंमें देखा जाता है।	यह कोई आवश्यक चिह्न नहीं। न रोगीको तन्द्रा अधिक देखी ही जाती है।
उदर विकार	प्राय: विष्टब्धता होती है। नाभिके चारों तरफ दर्द होता है। अन्तमें काला मलिनता-युक्त मल निकलता है।	प्राय: अतिसार लगते हैं। पेटमें गुड़-गुड़ाहट अध्मान साथ होते हैं। दर्द होता है। प्राय: नाभिके निम्न भागमें। रक्तश्राव भी होता है।
दाने या मण्डल	गर्दन पर मुक्ता-वत् स्वच्छ आभायुक्त	दाने नहीं निकलते, प्रत्युत गुलाबी रक्त-

लक्षण	मन्थरज्वर	टाइफाइड ज्वर
	खशखाशवत् दाने निकलते हैं जो पेट तक फैल जाते हैं। हाथ फेरनेसे उनका स्पर्श प्रतीत होता है दबानेसे नहीं दबते न मलनेसे मिटते हैं।	वर्णके चकत्ते पेट और छाती पर निकलते हैं। जो आकारमें गोल दालके दानेसे बड़े होते हैं। अंगुलीसे दबाने पर मिट जाते हैं। छोड़ देने पर फिर उभर आते हैं।
कब निकलते है	प्रायः सप्ताहान्तमें निकल आते हैं यदि न निकल सकें तो उपद्रव बढ़ जाते हैं। एक बारमे ही प्रायः सारे के सारे दाने प्रभात को निकला करते हैं। दो पहरके बाद प्रायः मिट जाते हैं। फिर अगले सप्ताह निकलते हैं।	७ से १२ दिनमें अवश्य निकल आते हैं और थोड़े २ निकलते, मिटते रहते हैं। यह क्रम तीसरे सप्ताह तक लगातार देखा जाता है।
त्वचा	त्वचा अत्यन्त रूक्ष होती है।	साधारण रूक्ष होती है।
शोष	प्रायः दाने रुक जॉय	कभी शोष नहीं

	तो शोष रोग सूखिया-मसान हो जाता है।	होता।
चेहरा	चेहरा साधारण स्थितिमें सुस्त, नेत्र बन्द, पुतली साधारण फैली हुई होती है।	चेहरा उतरा हुआ, कपोल पर अरुणता, ओष्ठश्यामतायुक्तशुष्क-दरारदार, नेत्रचमकीले, पुतलियाँ फैली हुई होती हैं
यकृत प्लीहा	यकृत प्रायः बढ़ जाता है।	प्लीहा प्रायः बढ़ती है।
उपद्रव वृद्धि	उपद्रव वृद्धिमें प्रायः फुफ्फुसप्रदाह होता है। प्रलाप, मूर्छा आदि-के उपद्रव भी साथ होते हैं।	अतिसार, आध्मान, पित्ताशय, पुच्छान्त्र-शोथादि अनेक उपद्रव होते देखे जाते हैं।

इस तरह योरुपके टाइफाइड तथा भारतके मन्थरज्वरके लक्षणोंमें काफी अन्तर मिलता है। हमें तो २४ वर्षके चिकित्सा कालमें केवल एक रोगी ऐसा देखनेको मिला जिसे मन्थरज्वरके साथ टाइफाइड ज्वरके कुछ चिह्न मिले। उसे ९ वें दिन मन्थरके दाने प्रथम दिखाई देनेके बाद ११ वें दिन पेट और छाती पर अरुण लाल चकत्ते दिखाई दिये। तीसरे दिन उनका फिर कोई चिह्न नहीं मिला। रोगीको ज्वर १ मासके लगभग रहा, किन्तु फिर उनका दर्शन नहीं हुआ।

जो डाक्टर यह कहते हैं कि मुक्तावत् दाने हरएक ज्वरमें निकल आते हैं, यह इस ज्वरका कोई निश्चित चिह्न नहीं, वह विदेशी निदानका अन्धानुकरण करते हैं। अन्य ज्वरोंमें भी शरीर पर मुक्तवत् दाने निकलते हैं, किन्तु उनका आरम्भ ग्रीवासे नहीं होता, यह स्मरण रखनेवाली बात है। वह दाने समस्त शरीर पर उष्णकालिक अन्धोरी, अन्धालाई, घाम आदिवत् एक साथ निकलते हैं। किन्तु मन्थरके दाने शत प्रतिशत रोगीमें ग्रीवाके आसपास वक्ष-स्थल पर प्रथम दिखते हैं, इसके बाद दो तीन दिन तक वह अधिकसे अधिक पेट व ऊर्द्धबाहू तक फैल जाते हैं। निम्न शाखाओंमें उनका चिह्न नहीं मिलता। दूसरे सबसे बड़ी बात यह है कि जीर्णमन्थर रोगीकी चिकित्सामें मैं कई बार डाक्टरोंके सन्मुख इस बातको सिद्ध कर चुका हूँ कि यदि रोगीको मन्थरज्वर ही है तो मेरी चिकित्सा द्वारा उसे मुक्तावत् दाने अवश्य निकलेंगे। जब यह निकल जाते हैं तभी रोगी राजी हो जाता है। दो-दो वर्षके शोष रोगियोंकी चिकित्सा करने पर उनमें प्रति सप्ताह के पश्चात् मुक्तावत् दानोंका प्रादुर्भाव होता रहता है। इन दानोंका निकलना रोगी के अच्छे हो जानेका निश्चित चिह्न है। यदि यह दाने न निकलें और रोगी मन्थरज्वरका हो तो कभी राजी नहीं होता। यह हजारों बारका मेरा अनुभव है। मैं अपनी अनुभूत चिकित्सासे मन्थरज्वरीमें ही इन मुक्तवत् दानोंका

आविर्भाव देखता हूँ, अन्य ज्वरोंमें नहीं। अन्य जीर्णज्वरोंमें इन्हीं औषधियोंके उपयोगसे कोई दाने नहीं निकलते। न अन्य ज्वरोंमें इस क्रमसे दानोंके निकलनेका सम्बन्ध ही पाया जाता है। इसी लिये हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि मुक्तावत् दानोंका ग्रीवासे प्रारम्भ होकर पेटतक फैलना और प्रति सप्ताहान्तमें ही उन दानोंका पुनः पुनः निकलना इसी ज्वरके लक्षणकी विशेषता है। जिसकी सत्यताको मेरी चिकित्साने सिद्ध कर दिया है, कि मन्थरज्वरके निर्विष होनेका यह वास्तवमें एक मुख्य चिन्ह है। चिकित्साकालमें यदि जीर्ण मन्थरज्वरीको प्रति सप्ताहान्तमें दाने निकलते चले जायँ तो प्रायः दिखलाई देता है रोगी निर्विष होता चला जा रहा है। उस समय पूर्ण विश्वास हो जाता है कि रोगी जल्दी राजी हो जायगा, दो चार सप्ताहमें फिर ऐसा समय आता है कि अन्तिम बार इन दानोंके निकलनेसे ज्वर एकाएक बिलकुल उतर जाता है। नाड़ी स्वस्थ चलने लगती है और उसी दिनसे रोगी स्वस्थताकी ओर बढ़ने लगता है।

प्रसार—इस रोगका संचार प्रायः खाद्य, पेय द्रव्यों द्वारा होता है। शहरों में, तंग गलियों, मकानों में इस रोगके कीटाणु इतने अधिक व्याप्त हो चुके हैं कि सारे वर्ष हर गली कूचीमें इसके दस पाँच रोगी बने ही रहते हैं। प्रायः देखा गया है कि जब ऋतु बदलती है और मक्खियाँ बढ़ती हैं उस समय यह रोग भी अधिकतासे फैलता है।

अनुमान है कि मक्खियाँ इसके कीटाणुको—रोगीके मल, मूत्र, थूक आदि पर बैठ कर—अपने हाथ पैरोंमें चिपटा लेती हैं और वह मक्खियाँ वहाँसे उड़कर हलवाईकी मिठाई, घरके खाद्य-पेय पदार्थों पर बैठ कर वहाँ वह मन्थरी कीटाणुओंको उतार देती हैं। इस तरह इन मक्खियों द्वारा अनेकों घरों, दूकानोंके खाद्य-पेय पदार्थ दूषित हो जाते हैं। उन्हें जो-जो व्यक्ति खाता है और जिनकी क्षमताशक्ति निर्बल होती है यह रोग हो जाता है। पर, भारतमें बालक ८० प्रतिशत इसके आखेट होते हैं। युवापुरुष व स्त्रियाँ २० प्रतिशतसे अधिक बीमार नहीं होती।

जब मक्खियाँ घट जाती हैं तब इसके रोगी भी कम आते हैं। इससे मानना पड़ता है कि धूल, जल, दुग्ध, जल-वाष्प आदि अन्य वाहकोंकी अपेक्षा मक्खियाँ इसके वाहनमें अधिक सहायक होती हैं।

संप्राप्ति—यह कीटाणु खाद्य, पेय किसी भी आधारके साथ शरीरमें पहुँचे पर इनका मुँहके मार्गसे उदरमें पहुँचना निश्चित माना जाता है। इनका केन्द्रस्थल क्षुद्रान्त्रके मध्य या अन्तिम भागकी लसिका ग्रन्थियाँ होती हैं, इसी लिये यह किसी मार्गसे शरीरमें प्रवेश करें, क्षमताकी कमीसे यह जीवित रह कर शरीरमें आगे बढ़ते हुए अपने केन्द्रस्थल तक जा पहुँचते हैं। फिर उन क्षुद्र ग्रन्थियोंमें घुसकर अपना वंश विस्तार आरम्भ कर देते हैं। प्रवेशकालसे लेकर आवेश-

काल तक इनकी वृद्धि होती रहती है। इसके लिये यह ११ से १५ दिनका संचयकाल ले लेते हैं। इस स्थितिमें धीरे-धीरे एक लसिका ग्रन्थिसे दूसरी-तीसरीमें वृद्धि करते हुए फैलते चले जाते हैं। इसके कारण उक्त स्थानकी लसिका ग्रन्थियाँ व वाहनियाँ इनकी वृद्धि तथा लसिकाणुओंके भक्षकाणुओंके जमावसे बढ़ती चली जाती हैं। इनके एकत्रीकरणसे यहाँ पर रक्ताभिसरण कम हो जाता है, जिससे उक्त स्थानमें शोथकी दशा उत्पन्न हो जाती है। जिस समय शोथकी स्थिति उत्पन्न होती है उन संयमोंमें उक्त कीटाणु वृद्धि इतनी अधिक हो चुकी होती है कि रक्त द्वारा वह समस्त शरीरमें प्रसर कर कीटाणुमयता उत्पन्न कर देते हैं और साथमें उनकी मृत्युसे एक प्रकारका विष निकलता है इसीसे ज्वरादिके चिह्न प्रादुर्भूत होते हैं। जो विष मन्थरी जैवोंकी मृत्युके पश्चात् उनके शरीरसे बाहर होता है उसे मन्थरी विप कहते हैं। इसी विष प्रभावसे उक्त ज्वरके समस्तरूप परिलक्षित होते हैं।

यदि आमाशय व अन्त्राशय अधिक विकारपूर्ण रहे, अहारजनित विकार या आम दोषका प्राबल्य हो, तो ऐसी दशामें कीटाणु वृद्धि अधिक होती है तथा उनकी मृत्यु भी अधिक होती है, इसीसे विषकी मात्रा भी उसी अनुपातसे अधिक होती जाती है। ऐसी दशा हो तो रोग उग्र रूप धारण कर लेता है। यदि आमदोषका प्राबल्य न हो और कीटाणु

वृद्धि तथा उनके मृतोत्थ विषका प्रभाव साधारण रहे तो जैवोंके संचलकालके पश्चात्—शोथकलाका समय प्रायः एक सप्ताहका ही रहता है। इसके पश्चात् शोथितकलामें अक्रियता उत्पन्न होने लगती है, धीरे-धीरे वह कोथके रूपमें परिणत होती चली जाती है। इसके लिये भी लगभग एक सप्ताहका समय लग जाता है। तत्पश्चात् उक्त कोथितकला अपने स्थानसे छूटने लगती है उसका रूप गला, सड़ासा कालेवर्णका ल्हेसदार होता है, जो प्रायः तीसरे सप्ताहके मलमें देखा जाता है। इसके पश्चात् उक्त क्षत स्थानमें नई कला आने लगती है और रोगी ठीक होने लग जाता है।

जब एक दशासे दूसरी दशाका आरम्भ होता है और मन्थरी जीवोंका मृतोत्थ विप-रक्तमें विद्यमान हो तो उस समय रक्त द्रवमें विशेप विपमयता पाई जाती है, जो लगभग दो तीन दिन तक रहती है। इसी विपके निर्विप होनेपर ग्रीवा व वक्षस्थल पर मुक्तावत् दाने प्रादुर्भूत होते हैं। यदि स्थिति ठीक क्रमसे चल रही हो तो प्रति सप्ताह मन्थरी दाने निकल कर तीन सप्ताहमें इसका सारा कोर्स पूरा हो जाता है और इतने समयमें शरीर सक्षम होकर प्रतिविषकी काफी मात्रा उत्पन्न कर लेता है। इसीसे कीटाणु वृद्धि व विषमयता नष्ट हो जाती है, रोगी ठीक होने लग जाता है।

यदि इसके विरुद्ध अजीर्ण दोप, आमदोषका प्रावल्य हो तो शोथ, कोथकी दशा का समय बढ़ जाता है। कई

बार कई रोगियों में शोथ, कोथमें न बदलकर काठिन्यमें बदल जाता है और वह फिर कोथ बनकर विगलित दशाको जल्दी प्राप्त नहीं होता। इसीसे रोगका मर्यादाकाल बढ़ जाता है। यदि उस शोथमें विष प्रभावसे दाहयुक्त विगलनका क्रम उत्पन्न हो जाय तो स्थान २ पर क्षत उत्पन्न हो जाते हैं और वह क्षत फिर जल्दी नहीं भरते। वह दुष्ट क्षतका रूप धारण कर लेते हैं उस समय उन क्षतोंके किनारे उभरे हुए बीच में गहरे दिखाई देते हैं। इस स्थितिको विशिष्ट विषमयताकी स्थिति कहते हैं। ऐसी स्थितिमें जिह्वापर भी विदग्ध वर्णके चिह्न दिखाई देते हैं। कहीं जीभ पर छाले, क्षत युक्त हलके लालिमायुक्त विरूपतायुक्तमैल चढ़ी दिखाई देती है।

ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर ज्वर नहीं टूटता, न मन्थर-ज्वरके दाने ही निकलते हैं यदि जैवी मृतोत्थ विषमयता बढ़ जाय तो शरीरके मांसल सजीव कोषों पर इनका इतना घातक प्रभाव होता है कि मांसल कोषोंकी क्षय पूर्त्ति रुक जाती है इसीसे शोष नामक रोग प्रकट होता है।

मुख्य लक्षण—कीटाणु संचयकालमें यदि शरीरके भीतर किसी अन्य प्रकारकी विकृतिका साधन विद्यमान हो तो संचयकालके पूर्ण होते ही जहाँ कीटाणुमयताके साथ मृतोत्थ विषमयता उत्पन्न होती है। उस समय प्रायः विष्ट-

न्धता होकर एकाएक ज्वर हो जाता है और धीरे २ निम्न-लिखित रूप प्रकट होता है।

(१) ज्वर प्रायः १०२-१०३ अंश तक जाता है। आधी रात्रिके बाद ज्वर १-२ या तीन अंश तक कम हो जाता है। दस ग्यारह बजे तक ज्वरकी यही स्थिति रहती है फिर ज्वर बढ़ने लगता है। २–३ बजे तक पहिले दिन जितना हो जाता है उतना या कुछ अधिक हो जाता है। यदि उदर विकारवान् हो तो ज्वर की मात्रा १०४ से ऊपर तक हो जाती है। उस समय यह समझना चाहिये कि रोग पूर्ण रूपेण बलवान् है। प्रायः ज्वर १०३–१०४ तक ही साधारणतः बढ़ा करता है। यह क्रम ५–६ दिन चलकर जिस दिन मन्थरी दाने प्रादुर्भूत होते हों उस दिन एक आध अंश ज्वर अधिक होता है। साधारणतः इस ज्वरका २४ घंटेमें चढ़ाव उतार एकसा चलता रहता है। किन्तु, रोग बलशाली हो तो इस क्रम में अन्तर पड़ जाता है।

(२) दूसरे या तीसरे दिन जिह्वा पर श्वेत पतली मलाई सी मैल चढ़ जाती है जिसके मध्यमें कहीं २ जिह्वांकुर लाल २ दानेवत् दिखाई देते रहते हैं किनारे तथा अग्रभाग लाल होते हैं।

(३) प्रायः बालक आंख मींचे तन्द्रामें पड़े रहते हैं। बुलाओ तो आँख खोल कर देखते हैं और फिर आँख बन्द कर लेते हैं।

(४) नाभिके नीचे प्रायः उसके वामभाग की ओर दबानेसे दर्द प्रतीत होता है।

(५) नाड़ीकी गति अधिक बढ़ी नहीं होती। नाड़ी-गति द्वारा ज्वरका अंश यदि १०१ प्रतीत हो तो उत्ताप-मापकसे १०३ अंश निकलता है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगारम्भ होने पर रक्त चाप कुछ घट जाता है और हृदयकी गतिमें शिथिलता आ जाती है इसीलिये नाड़ीकी गति उत्तापके अनुसार जहाँ १२० होनी चाहिये वहाँ ९०–९५ होती है। नाड़ी-गति गणना तथा उत्ताप अनुपातको मिलानेसे यदि अन्तर हो तो इसे मन्थरज्वर ही समझना चाहिये।

उक्त पाँच बातें जिस रोगीमें मिल जायँ वहाँ निःसंकोच कह सकते हैं कि इसे मन्थरज्वर है। मेरे अनुभवमें आया है कि आरम्भमें दो तीन दिनके भीतर इतने ही मुख्य लक्षण पाये जाते हैं।

(६) सप्ताहान्तमें यदि शीतवीर्य औषध व आहार न दिया गया हो तो मुक्तावत् आभा पूर्ण दाने ग्रीवा व वक्षःस्थल पर दिखाई देते हैं। बहुधा प्रभातको देखे जाते हैं, मध्याह्न पश्चात् अदृश्य हो जाते हैं। यह क्रम एक दो या तीन दिन तक दिखाई देता है। इससे मन्थरका निर्णय हो जाता है अन्य ज्वरोंमें ठीक इस अवधि पर इस रूपके दाने फिरग्रीवा वक्षस्थल पर ही निकलें यह आवश्यक नहीं होता।

उष्ण कालीनज्वरको छोड़ कर मुझे तो आज तक एक भी ज्वरका रोगी ऐसा नहीं मिला जिसे मन्थरज्वरकी आकृतिके मुक्तावत् दाने दिखाई दिये हों। यहां कई क्षयज्वरके रोगियोंमें दाने देखे जाते हैं जिसका कारण क्षयके साथ मन्थरका मिश्रण होता है। यदि सप्ताहान्तमें ग्रीवा पर दाने न निकलें तो, ज्वर मर्यादा रहित हो जाता है; फिर वह ज्वर उग्ररूप धारण कर लेता है। इसके साथ उपद्रव बढ़ जाते हैं, प्रायः निम्न उपद्रव देखे जाते हैं।

(१) दूसरे सप्ताहमें ज्वर १०५–१०६ तक मध्याह्नके पश्चात् पहुँचने लगता है। प्रभातके समय ज्वरकी मात्रा १०२ से कम नहीं होती प्रायः १०३ के लगभग देखी जाती है। नाड़ीकी गति बढ़ कर १२४—१३० तक जा पहुँचती है।

(२) श्वास नलिका प्रदाह या फुफ्फुस प्रदाहके चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं इसीसे थोड़ी २ खाँसी आने लगती है।

(३) रोगी मूर्च्छावस्थाकी ओर बढ़ता है। ज्वराधिक्यसे व्याकुलता, प्रलाप, मतिभ्रम, तृषा, अनिद्रा, आदि उपद्रव बढ़ते चले जाते हैं।

(४) पेटमें कुछ आध्मान होता है। किसी २ को ऐसे समय अतिसार आते हैं कइयोंको विष्टब्धता बनी रहती है।

(५) जिह्वा पर की मलिनता बढ़ जाती है उसका

वर्ण श्यामता लिये मिट्टी वर्णका हो जाता है। प्रायः जिह्वा शुष्क खरदरी लगती है।

(६) यकृत् कुछ बढ़ जाता है। प्लीहामें वृद्धिके कोई चिह्न नहीं पाये जाते।

(७) नेत्रकी पुतलियाँ फैली हुई होती हैं।

दूसरे सप्ताहान्तमें भी मन्थरी दाने न निकलें तो रोगीकी स्थिति और बिगड़ जाती है। ज्वर मर्यादा रहित अधिक लम्बा हो जाता है। प्रायः ऐसी स्थितिके रोगी कम बचते हैं। जो बचते हैं वह सालों निम्न लिखित स्थितिमें पाये जाते हैं।

(१) यकृत् बढ़ा हुआ होता है। पेटमें प्रायः नाभिके आस-पास या कोई प्रदेशमें शोथ, काठिन्य प्रतीत होता है पेट कुछ बढ़ा होता है। उदर परीक्षासे जहाँ शोथ, काठिन्य होगा रोगी दर्द अनुभव करता है। ज्वर मन्द २ बना रहता है। ज्वर प्रायः प्रभातको न्यून, मध्याह्नके पश्चात् बढ़ जाता है। ज्वर १०१–१०२ से अधिक नहीं होता है। प्रभातमें ९९ अंश या इससे भी कम हो जाता है किन्तु नाड़ीकी गति तेज होती है। रोगी निर्बल और कृश हो जाता है। त्वचा अत्यन्त रूक्ष होती है, हाथ फेरने पर खरखरी लगती है। त्वचाके रूक्षताकी स्थिति जीर्ण मन्थर रोगको जितना अधिक स्पष्ट करती है इतना अन्य चिह्न नहीं करते, उससे अधिक शोष रोगमें त्वचा रूक्ष और झुर्रियां पड़ी देखी जाती

हैं। थोड़ी थोड़ी खांसी आती रहती है। चेहरा निस्तेज हो जाता है। जिह्वा पर प्रायः विकृत वर्णकी लाली लिये पतलीसी मलिनता होती है। प्रायः जिह्वा पर छाले या क्षत होते हैं, गला भी पका होता है। जिह्वा प्रायः उदरकी स्थितिका वास्तविक दर्पण है। कई रोगियोंको ऐसी स्थितिमें प्रायः रेचन आते रहते हैं और पेटमें दर्द आध्मान गुड़गुड़ाहट बना रहता है। इस स्थितिके रोगीको देखकर प्रायः उदर क्षय ग्रन्थि रोगका भ्रम होता है; बहुधा इस स्थिति के मन्थर रोगियोंको देखकर अक्सर डाक्टर भ्रममें पड़ते हैं।

८-१० वर्षसे न्यून आयुके बालकोंमें उक्त स्थितिके साथ अक्सर शोष रोग होता है। मन्थरी शोष प्रायः छोटे बालकोंको ही होता है। गोदके दुग्धपायी बालक प्रायः मन्थर शोषी अधिक मिलते हैं। इसी रोगको कहीं सूखिया मसान, कहीं छाया परछांई, ग्रह बाधा; आदिके नामसे पुकारते हैं। इस रोगके बालक प्रायः चिकित्सकोंसे कम राजी होते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि रोग कुछ होता है और वैद्य उसे कुछ समझे हुए होते हैं। इसके कुछ लक्षण शास्त्रकारने शोष रोगमें दिये हैं।

यथा—यकृत्प्लीहाभिवृद्धिः स्यात् दाह स्वेदादिभियुता।
अस्मिन् शोषो महाघोरो जायते मृत्यु लक्षणम्।

उप मन्थरज्वर

यह भी एक प्रकारका मन्थरज्वर ही है। लक्षणोंमें

कोई अधिक अन्तर नहीं होता। किन्तु, इसमें कीटाणु उक्त मन्थरी जैवोंसे कुछ भिन्नता रखते हैं। वास्तवमें इन कीटाणुओंकी ३–४ उपजातियाँ हैं जो सब मन्थरज्वरवत् ज्वर उत्पन्न करती हैं। उनके ज्वरोंमें लाक्षणिक अन्तर इतना सूक्ष्म होता है जिसको देखकर विभेद करना कठिन है। प्रायः मन्थरज्वर और उपमन्थरज्वर जो भिन्न कीटाणुओं द्वारा होता है, उसमें यही सबसे बड़ा अन्तर है कि उपमन्थरज्वर प्रायः २१ दिनसे प्रथम भी उतर जाता है और ज्वर उतर जानेके बाद मन्थरी दाने दिखाई देते हैं। यह दाने आकृतिमें प्रायः राई सरसों जितने बड़े होते हैं। यह एक इनके विभेदकी साधारण पहचान है। अनेक बार मिश्रित कीटाणुओंसे भी मन्थर ज्वर होता है।

नवीन मन्थरज्वर हो तो उसे देखकर कई वैद्योंको संततका भ्रम हो जाता है। जैसा कि पीछे बतलाया है, जीर्णमन्थरज्वरको देखकर अच्छे-अच्छे योग्य व्यक्ति उदर ग्रन्थि क्षयका भ्रम कर लेते हैं किन्तु यदि रोगके मुख्य लक्षणोंको अधिक विचारके साथ समझ लिया जाय तो इनका विभेद मालूम करना कठिन नहीं होता।

राजयक्ष्मा और क्षय

राजयक्ष्मा और क्षय दो बीमारियाँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं न कारण भिन्न हैं, किन्तु इस समय इसको कुछ विभेदसे माना जाता है। जिस क्षयोज्वरमें फुफ्फुस विकृत हो जाय, उसको राजयक्ष्मा, जिसमें अन्त्र, लसीका ग्रन्थि, आदि अन्य अंगोंमें विकृति उत्पन्न हो उसे उस अङ्गका क्षय नाम देते हैं।

यथा—उदरग्रन्थि क्षय, लसीकाग्रन्थि क्षय (कण्ठ-माला) अस्थि क्षयज्वर आदि।

इतिहास—यह रोग इतना पुराना है जिसकी उत्पत्ति व व्याप्तिका इतिहास बताना सम्भव नहीं। आयुर्वेदके प्राचीनसे प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख पाया जाता है। किन्तु कण्ठ-माला, अपची, आदि रोग भी उन्हीं कारणोंसे उत्पन्न होते हैं ? इसका पता प्राचीन वैद्य न लगा सके। उदरग्रन्थि-क्षय भी नया रोग नहीं। जबसे अन्य क्षयज रोग पाये जाते हैं तभीसे यह भी हो सकता है। राजयक्ष्माका जितना स्पष्ट निदान शास्त्रकारोंने किया है वैसा ही स्पष्ट निदान उदर-ग्रन्थि क्षयका नहीं मिलता। इस रोगके लक्षण हमने निदान ग्रन्थोंमें ढूँढ़े। उदरोग, शूलरोग, गुल्म आदि कई रोगोंसे इसके लक्षण मिलाये किसीके ऐसे लक्षण नहीं पाये जाते। शूलके सम्बन्धमें संकेत है कि शूल उठने पर आध्मान[१]

१ आनाहो गौरवं छर्दिर्भ्रमस्तृष्णा ज्वरोऽरुचिः। कृशत्वं

शरीरका भारीपन, वमन, भ्रम, तृषा, ज्वर, अरुचि, कृशता बलका नाश और अतिवेदना यह दस उपद्रव होते हैं। कहीं इन उपद्रवोंको परिणाम शूलके कहीं समस्त शूलोंके चिह्न बतलाये हैं। यह लक्षण उदरग्रन्थिजन्य क्षयसे कुछ अंशोंमें मिलते हैं किन्तु, जो लक्षण शूलके[1] शास्त्र देता है उससे इसके लक्षणोंका मेल नहीं बैठता। उदरग्रन्थि जन्य क्षयमें आरम्भसे लेकर अन्त तब क्षोभयुक्त तीव्र पीड़ा नहीं होती। इसके विपरीत ज्वर भी शूलमें उतने ही समयके लिये देखा जाता है जिस समय भयंकर वेदना उठ रही हो शूलके लक्षणोंमें ज्वरका संकेत स्थायी जीर्णज्वरके लिये प्रतीत[2] नहीं होता। इसीलिये शूलके लक्षण उदरग्रन्थिजन्य क्षयमें नहीं घट सकते। इससे भिन्न उदरग्रन्थिजन्य क्षयके लक्षणोंको उदररोगके कई लक्षणोंसे भी मिला कर देखा गया, उनसे भी उदरग्रन्थि क्षयके लक्षण नहीं मिलते।

हम तो सही तौर पर यही कह सकते हैं कि यदि हमारे आचार्य राजयक्ष्मा, कण्ठमाला अपची, आदिके वास्तविक कारणोंको जान लेते तो इन रोगोंको एक श्रेणीमें और

बलहानिश्च वेदनातिप्रवर्त्तते। उपद्रवा दशैवेते यस्य शूलेषु नास्ति सः।

१ शंकु स्फोटन वत्तस्य यस्मात्तीव्राति वेदना। शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूल मिहोच्यते। वृद्धसुश्रुत। २ साहसं वेग संरोधः शुक्रौजः स्नेह संक्षयः। अन्नपान विधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः। वाग्भट।

एक स्थान पर उल्लेख करते। साधन होते तो उदरग्रन्थि क्षय को भी जाना जा सकता था। यह कोई कहे कि अजी! यह तो नया रोग है, यह बात अब कोई नहीं मान सकता। जब कण्ठमाला, अपची रोग उदरग्रन्थि क्षय तद्वत् ही हैं और इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है तो उदरग्रन्थि क्षय नया नहीं हो सकता।

रोगका कारण—आयुर्वेदमें इसके चार कारण बतलाये हैं। एक तो मल-मूत्रादिके वेगको साहसके रोकनेसे, दूसरे अतिप्रसंग तीसरे मिथ्या आहार करनेसे, चौथे धातु क्षयके अधिक होनेसे राजयक्ष्मा रोग होता है। एक कारण यह भी कहा है कि रक्तपित्तके[1] होने पर फिर राजयक्ष्मा होता है अर्थात् रक्तपित्त राजयक्ष्माका पूर्व रूप है। उक्त कारणोंसे दोष[2] एकाएक कुपित होकर राजयक्ष्मा उत्पन्न करते है।

पूर्वकालमें हमारे आचार्य मसूरिका, अभिष्यन्द आदि अनेक औपसर्गिक रोगोंका आभास पासके थे किन्तु इस रोगका आभास वह न पा सके इसका कारण यही था कि उस समय सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातोंको देखने व समझनेके साधन न थे। यह रोग ऐसा सर्वव्यापी है कि इससे भूमण्डलका कोई देश नहीं बचा। जिस तरह हमारे देशमें इसका प्रकोप

१ राजयक्ष्म पूर्व रूपेषु रक्तपित्तस्य चागमः। अंजननि०।
२ न त्रिदोष रहितः क्षयः।

बढ़ते देखा जा रहा है यही दशा आजसे १०० वर्ष पूर्व विदेशमें थी। इसकी भयंकरतासे संसार घबरा रहा था। और चिकित्सक इस बातको जाननेके लिये प्रयत्नशील थे कि रोग वास्तवमें है क्या ? और फैलता कैसे है ?

सबसे पहिले इसके सम्बन्धमें १८६५ ई० में एक फ्रान्सीसी डाक्टर विलोमैनको पता लगा कि यह बीमारी संचारी है और एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिको लग सकती है। उसने रोगीके चर्यांश पूर्ण पदार्थको लेकर उसका टीका स्वस्थ व्यक्तिको लगा रोगी कर दिखलाया। जिन २ व्यक्तियोंको टीका लगा था वह सब इस रोगसे घिर गये।

१८८२ ई० की २४ मार्चको जर्मन वैज्ञानिक राबर्ट कौकने बर्लिनमें एक वृहत् चिकित्सकोंको कान्फ्रेन्समें यह सिद्ध किया कि राजयक्ष्मा या क्षयका वास्तविक कारण एक प्रकारका शलाकाकार सूक्ष्म जैव है। जबतक न जैवोंका शरीरमें प्रवेश न हो तबतक यह रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। उसने अनेक प्रयोगोंसे इसकी सत्यता सिद्ध की। उस समयसे संसार इसके असली कारणको जान सका। जब इस बातका ठीक-ठीक पता लग गया कि यह जैवी रोग है और इसका सञ्चार एक व्यक्तिके रोगी होने पर वहाँ से दूसरोंको हो जाता है, तो यह खोज की गई कि इसका प्रसार कैसे होता है।

रोग सञ्चारका क्रम—अनुसन्धानसे ज्ञात हुआ कि

जब कोई रोगी यक्ष्मासे पीड़ित होता है तो उसके श्लेष्ममें इस रोगके असंख्यात कीटाणु होते हैं। पहिले तो स्वास्थ्य रक्षाकी ओर लोगोंका ध्यान ही नहीं था, इसीलिये देखा जाता था कि रोगी इच्छानुसार घरमें थूकता रहता था और उसके श्लेष्म पर मक्खियाँ बैठती रहती थीं। इससे भिन्न मकानकी दीवार फर्श जहाँ देखो श्लेष्मसे भर जाते थे। देखा गया है कि जिस मकानमें एकबार यह रोग हुआ हो उस मकानमें दो-दो चार-चार वर्ष तक इसके कीटाणु फर्श व दीवारोंकी श्लेष्म संयुक्त मिट्टीमें सजीव पाये गये हैं।

प्रायः इसके कीटाणु या तो श्वास-प्रश्वाससे सीधे फुफ्फुसमें प्रवेश करते हैं या खाद्य, पेय पदार्थोंके द्वारा उदरमें जाकर फिर बढ़ते हैं।

प्रायः जब यक्ष्मा रोगीको खाँसी आती है, उसके खाँसते समय थूक, वाष्प व श्लेष्मके काफी कण हवामें जा पहुँचते हैं, उन कणों पर काफी कीटाणु चढ़े होते हैं। जो व्यक्ति खाँसते समय सन्मुख होते हैं वह अपने श्वाँस द्वारा उसे अपने भीतर खींच लेते हैं। इससे भिन्न मक्खियाँ श्लेष्म पर एकबार बैठकर अपने हाथों पैरों पर लाखों कीटाणु चिपका लेती हैं और किसी खाद्य पदार्थ पर बैठकर उसपर अनेकों कीटाणु उतार देती हैं। जो व्यक्ति उन कीटाणुयुक्त वस्तुओं-को खा जाते हैं उन्हींको रोग हो सकता है। इससे भिन्न यह भी परीक्षासे सिद्ध हुआ है कि श्लेष्मके सूखे कण मिट्टीके

कणोंके साथ मिलकर उड़ते हैं उसमें भी कीटाणु होते हैं, उस धूल कणके श्वास-प्रश्वास द्वारा अन्दर जानेसे कीटाणुओंका प्रवेश हो सकता है। इससे भिन्न यह भी देखा गया है यह बीमारी गोजातिको भी होती है। कभी-कभी कई गौ बैलके शरीरमें ग्रन्थियाँ उठी हुई पाई जाती हैं। कई बार कई गऊओंके स्तनोंमें ग्रन्थियाँ देखी जाती हैं जिससे स्तन मारे जाते हैं। ऐसे स्तनहीन गऊओंकी स्तन-ग्रन्थियोंमें यक्ष्मा कीटाणु देखे गये हैं। ऐसी गऊओंका दुग्ध पान करनेसे भी उस दुग्धके द्वारा पशु शरीरसे वह कीटाणु उतर कर मनुष्योंके शरीरमें जा पहुँचते हैं और रोगका कारण बन सकते हैं। कण्ठमाला, अपची आदि लसीका ग्रन्थिजन्य क्षय प्रायः ऐसे ही दुग्धपानसे अधिक होते हैं।

इस रोगके आखेट कौन अधिक होते हैं—कण्ठमाला, अपची, उदरग्रन्थिक्षय आदि लसीकावाहिनी केन्द्राभिभूत यक्ष्मा रोग अधिकतर बालकोंमें पाया जाता है प्रतिशत ७५ तक ३ वर्षके बालकसे लेकर १४ वर्षके बालक अधिक और २५ प्रतिशत तक १५–४० वर्षके युवकोंमें देखा जाता है। फुफ्फुसी केन्द्राभिभूत राजयक्ष्मा प्रायः १५ वर्षसे ४० वर्षके पूर्ण वयस्क पुरुषोंमें अधिक देखा जाता है। बालकों और वृद्धोंमें इसकी संख्या नगण्य है किन्तु, स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है।

होता किन व्यक्तियोंको है ? इसका पता आयुर्वेदज्ञोंको भी अच्छी तरह लग गया था। वह कहते हैं कि यह रोग रक्तपित्त, कास, प्रतिश्याय, विषमज्वर, मन्थरज्वर, प्रसूता आदि अनेकों रोगोंके पश्चात् हो जाता है, इसीलिये तो इन्होंने इसको पुरोगम[1] कहा।

अनुसन्धानसे पता चला है कि वास्तवमें यह रोग होता ही उस समय है जब शरीरकी क्षमताशक्ति किसी भी कारणसे अत्यन्त घट जाती है उसी समय इसके कीटाणु शरीरमें घुसकर अपनी वृद्धि करनेमें समर्थ होते हैं।

नवयुवकोंमें इस रोगके आक्रमणकी प्रवृत्ति क्यों अधिक पाई जाती है ? इसका प्रधान कारण यही है कि जहां बालक युवावस्थाकी ओर बढ़ता है और वीर्योत्पत्ति होनी आरम्भ होती है बाल्यकालमें विवाह कर देते हैं या अज्ञानताके कारण वह उस अपक्व वीर्यका संरक्षण नहीं कर पाता, इसीका सबसे पहिले उस पर प्रबल प्रभाव होता है। धातुनाशसे एक तो शरीरकी वृद्धि व विकास रुक जाता है-दूसरे जो क्षमताशक्ति उस वीर्य व ओजसे शरीरमें उत्पन्न होनी थी वह उत्पन्न नहीं हो सकती।

प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति साधन सम्पन्न

---

१ अनेक रोगानुगतो बहुरोग पुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराड् इति च स्मृतः। वाग्भट।

खान-पान हैं, अच्छे उत्तम खाद्य पेयसे अपनी उस कमीकी पूर्ति करते रहते हैं वह बचे रहते हैं; किन्तु जिन्हें अच्छा पुष्टिकर भोजन नहीं मिल सकता वह अधिक क्षीण हो जाते हैं। वीर्य और ओज क्षीणताका प्रभाव सबसे अधिक उन्हीं व्यक्तियों पर पड़ता है जो स्वच्छ वायु प्रकाश पूर्ण स्थानसे वंचित रहते हैं तथा अच्छा ताजा आहार प्राप्त नहीं कर सकते। वीर्य क्षीणताका क्रम यदि कुछ काल जारी रहे तो प्रायः उन युवकोंकी पाचनशक्ति भी क्षीण हो जाती है। पाचक रसोत्पादिनी ग्रन्थियाँ वृद्धिको प्राप्त न होकर सिकुड़ जाती हैं और उनमें निर्बल तथा शक्तिहीन रस बनता है। इसीसे अग्निमान्द्यादि अनेक उदर रोग लग जाते हैं प्रायः विष्टब्धता रहने लगती है ऐसे कारणोंसे शरीर प्रथम ही बलक्षीण, क्षमताहीन होता है। यक्ष्मा कीटाणु सदा ऐसे ही व्यक्तियोंकी तलाशमें फिरा करते हैं इसीसे अन्य रोगोंके आखेटकालमें युवकोंको राजयक्ष्मा अधिक होता है। धातुक्षीणता और आमाशय दोषके बने रहने पर यह रोग अधिक होता है, इसीलिये तो इन दोनोंके संरक्षणकी ओर आयुर्वेदज्ञोंने जनताका ध्यान[१] खूब खींचा है।

इस बातका अच्छी तरह अनुसन्धान किया जा चुका

---

१ अग्नि मूलं बलं पुंसां रेतोमूलं च जीवितम्। तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन शुक्रं वह्नि च रक्षयेत्। वाग्भट।

है कि यक्ष्मा कीटाणु शरीरमें बीसों वर्ष तक बने रहते हैं, किन्तु, जबतक शरीर बलवान् सक्षम रहे तब तक यह उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते, किन्तु जहाँ किसी कारणसे मनुष्यकी शारीरिक शक्तिका ह्रास हुआ, क्षमता शक्तिमें कमी आई, इन्हें बढ़ने और रोग उत्पन्न करनेका अवसर मिल जाता है।

जिस तरह गोजातिके शरीरमें घुस कर यक्ष्मा कीटाणु बीसों वर्ष तक बने रहते हैं और उसे रुग्ण नहीं कर पाते इसी तरह सक्षम मनुष्यमें भी यह जीवित तो बने रहते हैं किन्तु उसे अपने प्रभावसे प्रभावित करनेमें असमर्थ रहते हैं। परन्तु, अवसर देखते रहते हैं, जब कभी इन्हें अवसर मिलता है यह उसका संहार करनेसे नहीं चूकते।

अनुवंशज प्रवृत्ति—गर्भधान द्वारा यदि बीमारी सन्ततिमें पहुँचे तो ऐसी बीमारीको अनुवंशज प्रवृत्ति कह सकते हैं। किन्तु इसके कीटाणु गर्भस्थितिमें रज वीर्यके साथ प्रवेश नहीं करते। इसी से वंशानुक्रम द्वारा यह रोग सन्तानमें नहीं पहुँचता ? हाँ, यह बात और है कि जिनके शरीर सक्षम नहीं होते उनकी सन्तान भी सक्षम नहीं होती। उनको रोग हुआ और वह उससे पीड़ित हो रहे हैं तो उनकी सन्तान भी उस रोगसे पीड़ित हो सकती है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि इसके कीटाणु बीसों वर्ष तक शरीरमें जीवित रहते हैं। जब घरमें सन्तान होती है तो

माता पिता उस बच्चेको प्यार करते, चूमते साथ खिलाते दूध पिलाते हैं, बस, इन्हीं मार्गोंसे—माता पिताके शरीरमें विद्यमान यक्ष्मा कीटाणु—बालकके शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं।

एक बात और स्मरण रखनेके योग्य है। जन्मजात बालकमें कभी यक्ष्मा रोगके कोई चिह्न नहीं मिलते। दो तीन वर्ष तक की अवस्थाके बालकोंमें भी प्रति हजार मुश्किलसे दो चार यक्ष्माके रोगी होते हैं, इसके बादकी अवस्थाके बालकोंमें अधिक संख्या मिलती है। युवावस्थामें तो ५० प्रतिशत तक पहुँच जाती है। इसका स्पष्ट कारण यही है कि इस अवस्थामें आकर नवयुवक जब अपनी क्षमताशक्ति नष्ट कर लेते हैं, तब यक्ष्मा कीटाणु उसे अपना आखेट बनाते हैं। परीक्षाओंसे देखा गया है कि जन्मजात छोटे बालकोंमें क्षमताशक्ति बड़ी बलवान् होती है, इसीसे उन बालकोंमें इस रोगके कीटाणु—जब शरीरमें पहुँचते हैं तो वह वहाँ—जीवित नहीं रह पाते। इसीलिये बालक इस रोगसे बचे रहते हैं।

संप्राप्ति—यह रोग प्रायः ७५ प्रतिशत अन्य रोगों—फुफ्फुसप्रदाह, काली खाँसी, श्वसनकज्वर, हृद्रोग, फुफ्फुस-रोग, विषमज्वर, कालज्वर, खाँसी, जुकाम, रक्तपित्त आदि अनेक दीर्घ कालीन—के पश्चात् अधिक होता है। इसका कारण भी क्षमताका अभाव होता है, क्योंकि रोगी मनुष्य जब क्षीण हो जाता है तो इसके कीटाणु शरीरमें प्रवेश

करके किसी क्षीण स्थानको अपना केन्द्र चुन लेते हैं और वहाँसे वह अपनी वृद्धि करते हैं उससे फिर रोगका रूप प्रकट होता है।

यक्ष्मा कीटाणुका आक्रमण बहुधा किशोरावस्था या बाल्यावस्थामें होता है और वह कीटाणु शरीरकी क्षमता शक्तिके बने रहने पर बढ़ने नहीं पाते हैं, न वह रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। यही कीटाणु जब युवावस्था आनेपर शरीरको किसी कारण क्षीण हुआ पाते हैं तो उस स्थितिमें अपनी वंशवृद्धि करने लग जाते हैं, इसीसे रोगका रूप प्रकट हो जाता है। चाहे रोग नये आये हुए यक्ष्मा कीटाणुओंसे उत्पन्न हुआ हो, या शरीरमें चिरकालीन यक्ष्मा जीवाणुओंके वंशवृद्धिसे उत्पन्न हुआ हो, दोनों ही स्थितियोंमें रोग उत्पन्न होनेका कारण एक मात्र क्षमताका घट जाना है।

इसकी चिकित्सामें अच्छा आहार, स्वच्छ जलवायुका प्रभाव अधिक हितकर देखा जाता है, उक्त उत्तम साधनोंसे क्षमता शक्ति बनी रहती है। स्वच्छ ताजा पौष्टिक आहार व जलवायु और प्रकाश जीवनीय शक्तिको बढ़ानेवाली चीजें हैं, इसीसे यक्ष्मा रोगीको इन्हीं साधनोंसे अधिक लाभ होता है।

रोगोत्पत्तिका कारण व भेद—इस रोगके कीटाणुओंकी रोगकारक प्रवृत्ति इतनी व्यापक होती है कि यह शरीरकी

हर एक धातु व अवयवतक पहुँच जाते हैं। इसीलिये इसके कीटाणुओंसे उत्पन्न रोग शरीरके प्रत्येक अङ्गमें देखे जाते हैं। फुफ्फुस, हृदय, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, मस्तिष्क, अन्त्र, आमाशय, स्नायुमण्डल, मांसपेशी, यहाँतक त्वचा भी इसके आक्रमणसे नहीं बचती। किन्तु, इनसे लसीका ग्रन्थियाँ और फुफ्फुस अधिक आक्रान्त होते हैं। एक बात और महत्त्वकी जानी गई है, जो यक्ष्मा कीटाणु दुग्धपान द्वारा गोजातिसे मनुष्यमें आते हैं, उनसे प्रायः लसीका, ग्रन्थियोंका क्षय अधिक होता है और जो यक्ष्मा कीटाणु एक मनुष्यके शरीरसे दूसरे मनुष्यके शरीरमें पहुँचते हैं उनसे फुफ्फुसका क्षय अर्थात् राजयक्ष्मा अधिक होता है।

परीक्षाओंसे देखा गया है कि मनुष्यके शरीरमें पले हुए यक्ष्मा कीटाणु मनुष्य शरीरकी स्थितिसे अच्छी तरह परिचित होते हैं। जिस वाहकमें वह थे वहाँ उस वाहककी क्षमता शक्तिसे, युद्ध करते रहनेके कारण उस यौद्धिक स्थितिसे खूब परिचित हो चुके होते हैं। वहाँ तो वह साधन सम्पन्न शरीरको जीत नहीं पाये या उसको रुग्ण कर रक्खा है तो वहाँ अधिक बढ़नेके कारण वह एक नये क्षीण शरीरकी तलाशमें जब दूसरे व्यक्तिके शरीरमें पहुँचे हैं तो वहाँ एकाएक उनका इधर सांमुख्य लेनेवाला कोई नहीं होता। यह उस जीवन संग्रामसे पूरे परिचित व युद्धकलामें प्रवीण होते हैं। उधर शरीर क्षीण होता है, दूसरे शरीर रक्षक

इस तरह शुद्धवायु व शुद्ध भोजनसे अनभिज्ञ होते हैं इसीलिये ऐसे पुरुषोंमें फुफ्फुसका यक्ष्मा अधिक होता है।

यह भी वैद्योंको भूलना नहीं चाहिये कि शरीरमें फुफ्फुस अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा अधिक निर्बल अङ्ग है। इसमें रक्त धातु (नलीका) उसी वेग और उसी मात्रा में—जैसा समस्त शरीरमें पहुँचता है—नहीं पहुँच पाता। क्योंकि इसकी रचना ही और तरहकी है, यहाँ रक्तपरिभ्रमणका प्रबन्ध दूसरे ही ढंगका है। इसमें अधिकतर एक ओरसे अशुद्ध रक्त आता है और शुद्ध रक्त जाता रहता है, दूसरी ओर पोषक रक्त भी पहुँचता है। इसीलिये इसकी परिश्रमनशीलता शरीरके भागों स्थानोंकी अपेक्षा कम होती है। इससे भिन्न फुफ्फुसमें ऊष्मीकरण प्रक्रिया भी कम होती है। इसके भिन्न कुछ और भी सूक्ष्म सहायक कारण हैं।

इन्हीं त्रुटियोंके कारण प्रायः जो यक्ष्मा कीटाणु शरीरमें प्रवेश करते हैं वह या तो सीधे ही श्वासनलीसे फुफ्फुसमें पहुँच जाते हैं, या रक्त मार्गों में होकर जब फुफ्फुसमें पहुँचते हैं तो वहाँ उन्हें अपनी अभिवृद्धिकी परिस्थिति अनुकूल दिखाई देती है, इसीसे वह वहाँ अपना केन्द्र बना कर वंशवृद्धि करने लग जाते हैं। फुफ्फुस यक्ष्मा जब हो जाय तो फिर शरीर कभी स्वस्थ हो सकेगा—इसकी आशा बहुत कम रह जाती है। हजारोंमें कोई एक दो ही बचते हैं। लसीका वाहिनीके रोगी इसकी अपेक्षा काफी

बच जाते हैं। उनमें भी कण्ठमाला, अपचीके रोगी उदर-ग्रन्थि क्षयकी अपेक्षा अधिक बचते देखे जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि उदर ग्रन्थिमें जहां यक्ष्मा कीवाणु केन्द्रित होते हैं वहाँ रस आचूषकोंके पीछेकी ही लसीका ग्रन्थियाँ होती हैं। जिनमें आचूषण प्रवृत्तिके कारण रक्ताभिसरण व चाप कम रहता है। वह स्वयम् रसको आगे संकोचगति द्वारा भेजती रहती है इसीलिये वह शरीरके और अंगोंकी अपेक्षा अधिक अक्षम होती हैं। उदरग्रन्थिक्षय भी घातक होता है, किन्तु होता है फुफ्फुस यक्ष्मासे कम। पर लसीका-मार्ग-ग्रन्थियोंका क्षय—जो कण्ठमालाके रूपमें होता है यह लसीकावाहिनी मार्ग ग्रन्थियोंका होता है, इनमें रक्ताभिसरणसे काफी सहायता प्राप्त होती है और यह अधिक सक्षम होती हैं, इसीलिये इस रोगके रोगी बहुत समय तक जीवित रहते हैं तथा चिकित्सासे उन्हें लाभ भी हो जाता है और मरते भी हैं तो अधिक समय लेकर। अस्थिका क्षय भी अधिक घातक होता है इसका कारण भी वही है जो ऊपर फुफ्फुसादिका बताया है। यह शरीरका अंग कठोर होनेसे यहाँ भी रक्ताभिसरण कम होता है तथा रक्षक दलकी पहुँच यहाँ भी कम होती है। अस्थिक्षयी रोगी प्रायः मर जाते हैं इसका कारण यही है कि इस रोगके आक्रमणके पश्चात् अस्थि कभी सक्षम नहीं होती। अस्थिको काट कर निकाल देने पर भी यक्ष्माजनित विकार नष्ट नहीं होता,

उसका विष शरीर व्यापक हो चुका होता है, इसीसे अब डाक्टर लोग यक्ष्माजनित रोगमे शल्य कर्म नहीं करते।

विकृतिके रूप—यक्ष्माके कीटाणु जब शरीरमें प्रवेश करते हैं तो यह जहाँ जाकर अपना केन्द्र स्थापित करते हैं वहां सबसे पहिले इनकी वृद्धिसे अति सूक्ष्म छोटी-छोटी ग्रन्थियां उत्पन्न होने लग जाती हैं। जिस जगह इनके केन्द्र बनते हैं वहाँ पर बहुत छोटी २ ग्रन्थियां सी बनती व बढ़ती चली जाती हैं इन्हींकी वृद्धिसे उक्त स्थानका प्रसार होता है। इन्हीं रोग ग्रन्थियोंकी रचना होनेके कारण अंगरेजीमें इसको ट्यूबरकल और रोगको ट्यूबरक्युलोसिस (Tuberculosis) कहते हैं।

आयुर्वेदज्ञोंने फुफ्फुस सम्बन्धी राजयक्ष्माको जाना था। इससे भिन्न कण्ठमाला आदि अन्य यक्ष्मा कीटाणु-जनित रोगोंको यक्ष्माका भेद किसीने नहीं माना। यह एक भारी कमी रही। फुफ्फुस या लसीका ग्रन्थियोंमें जहां इनका सम्वर्द्धन होता है और जहाँ ग्रन्थियां उत्पन्न होने लगती हैं धीरे २ वह सूक्ष्म ग्रन्थियां परस्पर मिलकर अनेक ग्रन्थियोंकी एक ग्रन्थि बन जाती है। उस समय वह स्थान उभरा हुआ कठिन दिखाई देता है जैसे कण्ठमालामें। फुफ्फुस वक्षस्थलके भीतर रहनेवाला अंग है, इसलिये इसको सिवाय ठेपन व शब्द बोधन विधि द्वारा अन्य विधिसे जानना कठिन है। पूर्वकालमे वैद्य ठेपन विधिसे अपरिचित

थे। यदि किसी मृतराजयक्ष्माके रोगीका फुफ्फुस वैद्य देख पाते तो सम्भव था कि उनको उसके विकारी होनेका ज्ञान हो जाता, पर मैं समझता हूँ कि उन्हें ऐसे मृत रोगीके फुफ्फुसको देखनेका भी अवसर न मिल सका। जभी वह आजतक यह जान न पाये कि राजयक्ष्मामें असली शरीरका कौन २ सा अंग विकृत होता है। वह केवल लक्षणके आधार पर रोगका निश्चय कर सके। लक्षण मात्र ही उनके रोग विनिश्चयका साधन रहा, इससे आगे वह न बढ़ सके। अब यह अच्छी तरह देखा गया है कि जब यक्ष्मा कीवाणु जहां कहीं अपना केन्द्र स्थापन करते हैं वहां प्रथम रोग ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं।

उन ग्रन्थियोंके भीतर रक्ताभिसरण नहीं होता चूनी भवनसे जो पदार्थ वहां संचित होते हैं वह जमते चले जाते हैं, इसीलिये वह ग्रन्थि स्थान कठिन हो जाता है। यदि यह रोग फुफ्फुसका हो तो इस अवस्थाको रोगको प्राथमिक अवस्था कहते हैं। इसके पश्चात् उक्त ग्रन्थिमें संचित पदार्थोंका विगलन प्रारम्भ होता है और वह ग्रन्थियां फिर फूटती हैं। ऐसे समय इसमेंसे गाढ़ा पूय, विगलित तन्तु आदि-पदार्थ निकलते हैं इस स्थितिको रोगकी दूसरी दशा कहते हैं। इसके पश्चात् विगलनसे वह स्थान गल कर नष्ट हो जाता है और वहां क्षतके गह्वर बन जाते हैं। वहाँसे पूर्व श्लेष्म रक्तादि पदार्थ बराबर जाते रहते हैं ऐसी

अवस्थाको तीसरी अवस्था कहते हैं। इस तरहकी तीनों अवस्थाएँ कण्ठमालामें भी दिखाई देती हैं। ग्रन्थियां बनकर जब तक नहीं फूटतीं उन्हें अपची कहते हैं। फूटने पर उन्हें कण्ठमाला कहते हैं और बहती रहने पर क्षत हो जानेसे जब वह क्षत जल्दी नहीं भरते उसको तीसरा विद्रूपावस्थाकी (स्टेज) कहते हैं।

वैद्योंको एक बात और स्मरण रखना चाहिये वह यह कि यक्ष्मा कीटाणुओं द्वारा जब फुफ्फुस आक्रान्त होते हैं तो फुफ्फुसका प्रायः शिखर (ऊपरी कोना) आक्रान्त होता है या शिखरके समीपका अधिकतर पिछला या अगला भाग। फुफ्फुसका और भाग इसके पश्चात् आक्रान्त हुआ करता है। फुफ्फुसके मध्य भाग या निम्न भाग कम ही आक्रान्त होते हैं। हाँ फुफ्फुसप्रदाही ज्वर आदि फुस्फुस प्रभाव-कारी रोगोंके पश्चात् यदि राजयक्ष्मा हो तो फिर फुफ्फुसका जो भाग निर्बल हो वहाँ पर ही यक्ष्मा कीटाणुओंका केन्द्र बन सकता है। ऐसे समय अनेक भागोंका भी यक्ष्मा देखा जाता है। रोगी देखते समय वैद्यको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि यक्ष्माके लिये वह फुफ्फुस शिखर की परीक्षा सर्व प्रथम करे।

फुफ्फुस परीक्षाके लिये नये आधुनिक साधनों का आश्रय लेना जरूर चाहिये। पुराने साधनोंमेंसे कोई भी साधन ऐसा नहीं जो आरम्भिक निदानमें सहायता दे सके।

लक्षण—यह रोग इतनी धीमी गतिसे बढ़ता है कि आरम्भमें इसका निदान होना बड़ा कठिन रहता है। बड़े-बड़े योग्य अनुभवी चिकित्सक भी इसकी प्रथमावस्थाको कठिनतासे जान पाते हैं। दूसरे सबसे बड़ी बात यह भी है कि यह रोग अन्य रोगोंका अनुगामी है। प्रायः प्रथम रोगके समय यह अवसर ढूँढा करता है। विद्यमान रोग अभी शरीरमें विद्यमान होता है, उसके बीचमें ही इसके कीटाणुओंका भी आक्रमण हो जाता है उस समय उस रोगकी स्थितिमें इसका ज्ञान नहीं हो पाता। बहुधा यह रोग मन्थरीजीर्णज्वर, जीर्णविषमज्वर, कालज्वर, प्रसूतिकाज्वर या अन्य कोई उदर विकारजनितज्वरोंके मध्य इसका आक्रमण होता है ऐसे समय इसके होनेका आरम्भमें कोई पता नहीं चलता। चिकित्सक यही समझे रहते हैं कि यह जो नये उपद्रव दिखाई देते हैं वह या तो किसी कुपथ्यका परिणाम है या विद्यमान रोगकी असाध्यताके सूचक हैं। वह यह नहीं समझ पाते कि इस रोगसे भिन्न एक नया रोग और उत्पन्न हो रहा है। हमारा अपना अनुभव है कि ८० प्रतिशत रोगी अन्य रोग होनेके मध्य या अन्तमें यक्ष्मा रोगसे घिरते हैं। इस तरहकी स्थिति ऐसी गुप्त होती है कि उसका महीनों पता नहीं लगता। जब रोगके लक्षण अत्यन्त स्फुट हो जाते हैं तब उसका ज्ञान होता है कि—इसको तो यक्ष्मा है। इसलिये इसका

प्रागूरूप कब बनता है, कैसे बनता है ? अन्य रोगोंकी स्थितिके कारण ठीक-ठीक नहीं जाना जाता।

अनेक बार रोगी धातुक्षीणता, शारीरिक निर्बलताकी स्थितिमें जब होता है, उस समय कई ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं, जिनको अजीर्णादि विकार होने पर कभी-कभी मन्द-मन्द ज्वर हो जाया करता है। कइयोंको प्रतिश्याय नजलाकी शिकायत प्रायः रहती है, ऐसे व्यक्तियोंके शरीरमें यक्ष्मा कीटाणु हों तो उनके प्रभावका कोई बोध नहीं होता। मन्द-ज्वरी अनेकों ऐसे रोगी देखे जाते हैं, जो अपना कारोबार चलाते रहते हैं, किन्तु एकाएक जब चारपाई पकड़ लेते हैं और रोग प्रवृद्ध हो जाता है तब उसकी जाँच कराते हैं, उस समय रोगका ज्ञान होने पर भी चिकित्सकके बनाये कुछ नहीं बनता। इसलिये, जब कभी कोई जीर्णज्वरका रोगी मिले उसके रक्त, थूककी परीक्षा अवश्य समय-समय कराते रहना चाहिये। इससे रोग निदानमें काफी सहायता मिल जाती है।

क्षयके ऐसे भी रोगी देखे गये हैं कि उनमें ज्वरका ज्ञान तापमापकसे नहीं होता। उत्ताप मापकमें पारा ९७—९८ से अधिक नहीं चढ़ता। किन्तु, नाड़ी अत्यन्त पतली तीव्रगामी होती है। नाड़ी शरीरके अन्दर विषकी स्थिति तथा ज्वरकी सूचना दे देती है। नये रोगमें प्रायः सायंकालमें कुछ हरारत हुआ करती है। धीरे-धीरे फिर ज्वर

प्रभातको ९९ अंश और सायंकालको १०१ या १०२ तक हो जाता है, प्रायः रात्रिको प्रस्वेद आकर ज्वर उतरता है। ज्वरकी यह स्थिति मन्थरज्वरसे मिलती है, किन्तु स्मरण रहे कि मन्थरज्वरमें रात्रिको पसीना नहीं आता।

फुफ्फुस क्षयके कुछ दृश्य लक्षण

जब फुफ्फुसका क्षय हो तो वक्षस्थल, ग्रीवा आदिकी आकृतिमें विशेष परिवर्त्तन होता है और उसे स्पष्ट देखा जाता है।

(१) ग्रीवा हंसकी ग्रीवाके समान बन जाती है, अर्थात् स्कन्धोंके पास चौड़ी और फैली हुई ऊपर शीर्ष-भागकी ओर पतली हो जाती है।

(२) रोगी को बिठाकर कपड़ा उतारकर पीछे से स्कन्ध भाग पर श्वास प्रश्वासके समय दृष्टि डालें तो श्वासके समय जिस ओरका स्कन्ध कम फूले उसीमें विकार है ऐसा जाना जा सकता है।

(३) आगेसे अक्षक या हँसली पर दृष्टि डालकर देखें कोई भाग उसका उभरा हुआ तो नहीं अर्थात् दोनोंमें अन्तर तो नहीं। जिसमें दिखाई दे उस भाग का फुफ्फुस विकारी जानो।

(४) इस रोगमें वक्षस्थलका उभार घट जाता है, अर्थात् छाती प्रायः चिपटी हो जाती है और उसका अगला

तथा पिछला व्यास कम हो जाता है, इसको देख कर व नाप कर जाना जा सकता है।

(५) फुफ्फुस विकारके कारण प्रायः पर्शुका वक्र हो जाती है, वह कुछ अन्दरकी ओर झुक जाती हैं और पर्शुकाओंके मध्यका स्थान अधिक गहरा हो जाता है। पर्शुकाएँ साफ-साफ दिखाई देती हैं।

(६) सिरकी ओरसे पेटकी ओर देखें तो स्कन्धास्थि-कोण पर्शुकासे आगे बढ़ा हुआ दिखाई देता है।

(७) मुख शरीरकी अपेक्षा विशेष आभा युक्त सुर्ख या स्वस्थ सा दिखाई देता है। मुखाकृति स्निग्धतायुक्त अच्छी होती है। किन्तु आवाजमें अन्तर पड़ जाता है। मुखाकृति परीक्षा यदि अनुभवमें आजाय तो रोग समझनेमें सुविधा होती है।

(८) नेत्रकी पुतलियाँ फैली हुई रहती हैं।

(९) अँगुलियोंके अगले पर्व गोलाई युक्त कुछ मोटे हो जाते हैं तथा नाखूनोंकी स्थितिमें अन्तर आ जाता है। नाखून आगेसे लम्बे शूर्पाकार झुक जाते हैं। फुफ्फुस सम्बन्धी अन्य रोगोंमें भी इनका झुकाव होता है किन्तु नाखूनके अग्रभागके पास जितना अधिक झुकाव इसमें देखा जाता है अन्यमें नहीं। कुछ रोगीके नखून चौड़े सपाट हो जाते हैं।

(१०) यदि फुफ्फुसमें विगलन प्रारम्भ हो गया हो तो

विगलित स्थानका वक्ष भाग सपाट या अन्य स्थानोंकी अपेक्षा झुक जाता है।

(११) फुफ्फुस संकोचमें वक्षस्थल भी संकुचित होता है और उसकी आकृति कहीं उभरी कहीं संकुचित होनेसे कपोतवक्षकी सी बन जाती है।

(१२) फुफ्फुसके जिस भागमें विकार हो उधरका वक्ष श्वास लेनेके समय कम फूलता है।

(१३) आरम्भमें खाँसी सूखी उठा करती है। प्रायः श्लेष्म नहीं आता, रोगी बहुत खाँसता रहता है, पर थूक जरासा आ जाता है।

(१४) खाँसीका ठसका विशेष प्रकारका होता है। ठसका बहुत मन्द होता है, जोर २ से रोगी नहीं खांस सकता।

(१५) उत्ताप प्रायः प्रभातको ९८–९९ और सायं-कालका १०२–१०३ तक होता है। किन्तु नाड़ी पतली तीव्रगामी होती है।

(१६) ज्वर प्रायः रात्रिको आधी रात्रिके लगभग या बाद—पसीना देकर उतरता है। इसीको प्रलेपक[1] ज्वर कहते हैं।

---

१ प्रातर्ह्नेनोऽपराह्णे यः साय वापि प्रवर्तते। स्वेदैः प्रलिम्पन् गात्राणि मन्दज्वर प्रलेपकः। सिद्धान्त निदानम्।

(१७) फुस्फुस जोनसा विकारी हो वहां टेपन करने सुनने से रोगी दर्द मानता है।

(१८) जब रोग नया हो केवल फुस्फुसमें शोथ होकर वहां ग्रन्थियां बन गई हों तो टेपनसे वह स्थान ठोस शब्द देता है। जितना स्थान शोथपूर्ण ठोस होगा वहां टेपनसे ठोस और जो स्थान शोथ रहित होगा वहां शब्द ठीक सुनाई देगा।

(१९) जब फुस्फुसमें विगलन प्रारम्भ हो जाय और वहाँ कोटर बनने लग जायँ तो टेपनसे गुंजायुक्त या पात्र-ध्वनिवत् शब्द निकलता है। और रोगीका मुंह खुला रखाकर तब टेपन करें तथा मुंह बन्द करा कर टेपन करें तो दोनोंमें अन्तर प्रतीत होता है।

(२०) फुस्फुस परीक्षक यन्त्रसे यदि फुस्फुसके शब्दको सुनें तो प्रथम श्वास प्रश्वासकी गतिमें ही अन्तर मिलता है। यदि अभी शोथावस्था है तो श्वास लेनेका शब्द अधिक और निश्वासका कम सुनाई देता है। कभी २ कोई रोगी श्वास लेते समय ठहर ठहर कर तरंगवत् श्वास खींचते हैं और निःश्वासके अन्तमें कुछ कर कर, मर मर या कूजनका शब्द सुनाई देता है। यह शोथका चिह्न है जो फुस्फुस संकोचके समय वायु निस्वाससे संकोचकालमें रुकता है। फुस्फुस परीक्षाके समय श्वास

निःश्वास होनेके समयको भी साथ २ देखते रहना चाहिये। क्योंकि इसमें अन्तर हो जाता है।

(२१) जब विलगन प्रारम्भ हो जाता है या विगलित दशा होती है तो शब्दका रूप बदल जाता है। आरम्भिक दशामें चीं चीं या सुरसुराहटका-सा शब्द होता है। फिर श्वासके समय प्रतिध्वनि बढ़ जाती है। श्वास लेनेमें जितना समय रोगी लेता है निःश्वासके समय उससे अधिक समय लगता है। यदि शब्दमें घरघराहट भी हो तो वह श्लेष्म व पूयकी उपस्थिति समझी जाती है।

(२२) यदि कोटर बढ़ रहा हो तो पोलका शब्द ठेपनसे तथा श्रवणसे प्रतीत होने लगता है। श्रवणसे उस समय कोई शब्द वहां सुनाई नहीं देता।

(२३) जब श्लेष्म जाने लगे तो उस श्लेष्मको जलमें थुका कर देखना चाहिये। यक्ष्माजनित श्लेष्म प्रायः भारी होता है और वह जलमें डूब जाता है।

(२४) उसका वर्ण भी कुछ हरित वर्ण लिये पीत गाढ़ा बंधा हुआ होता है और उसमें गन्ध होता है।

(२५) इस श्लेष्ममें पूयका मिश्रण प्रायः रहता है। जिसको ध्यानसे देखने पर या सूक्ष्म परीक्षासे देखा जा सकता है। गन्ध भी पूयके कारण होता है।

(२६) विवर या कोटर तक रक्तकेशिकायें आ लगें तो फिर रक्तकी धारियाँ भी श्लेष्मके साथ लगकर आने लगती

हैं। कभी-कभी काफी रक्त मिश्रित श्लेष्म भी आता है। जब अपकर्षणके श्लेष्ममें अर्थात् भीतरसे खींच कर निकाले श्लेष्ममे रक्तका मिश्रण हो तो उसे फुफ्फुसकी विकृतिका चिह्न मानना चाहिये। अपकर्षणके बिना ग्रीवा सङ्कोचनसे जो श्लेष्म बाहर निकाला जाय उसमें रक्तका मिश्रण हो तो गलेके कहीं आसपास विकार है, ऐसा समझकर उस स्थानको जानना चाहिये।

(२७) प्रायः राजयक्ष्मामें फुफ्फुसावरणमें शोथ उत्पन्न हो जाता है। अधिकसे अधिक रोगी फुफ्फुसावरण शोथके पाये जाते हैं। आरम्भमें यह शोथ शुष्क होता है, पश्चात् इसमे तरल बनने लगता है और दोनों आवरण परस्पर चिपक जाते हैं।

(२८) फुफ्फुसआवरणशोथ उत्पन्न होने पर रोगी श्वास लेते समय कष्टका अनुभव करता है। उसे दर्द होता है और पार्श्व शूलके लक्षण प्रकट होते हैं।

(२९) प्रायः फुफ्फुस यक्ष्मा रोगीकी जिह्वा साफ रहती है। कोई मैल जिह्वा पर नहीं होता। यदि उदरमें विकार आ जाय तो फिर जिह्वा मलिन हो जाती है।

(३०) क्षुधा नष्ट नहीं होती। जबतक उदर विकारी न हो, रोगी भोजन कर लेता है और पचाता रहता है।

(३१) निर्बलता धीरे-धीरे बढ़ती जाती है, उसके शरीरका

वजन (भार) धीरे-धीरे घटता जाता है। रोगीको इसी-लिये प्रति सप्ताह तोलते रहना चाहिये।

(३२) दोनों स्कन्ध भारी और उनमें पीड़ा होती है।

(३३) कुछ रोगियोंके हाथ पैर तपते रहते हैं।

(३४) इसमें प्रायः जो श्लेष्म जाता है उसमें अण्ड-सित (अल्ब्यूमन) होता है। इसी लिये श्लेष्मकी रसाय-निक परीक्षा अवश्य सप्ताहमें एक बार कराते रहना चाहिये। यदि अण्डसित पाया जाय तो निश्चित रूपेण यक्ष्मा कहना चाहिये। क्योंकि सिवाय फुफ्फुस प्रदाहज्वर या यक्ष्माके किसी अन्य रोगोंके श्लेष्ममें अण्डसित नहीं आता। यह भी इसकी एक अच्छी परीक्षा है।

इस तरह इस रोगके ज्ञापनार्थ अनेक लक्षण हैं। अनेक सूक्ष्मदर्शक रसायनिक विधियाँ भी हैं किन्तु वैद्य उनका उपयोग न जानते हैं न कर सकते हैं। वैद्यको जब किसी रोगीमें यक्ष्माका भ्रम हो और उसे शुष्क कासज्वरके साथ दिखाई दे तो उनको चाहिये कि रोगीकी रश्मिक्ष (एक्सरे) परीक्षा दो-चार बार एक ही विशेषज्ञके पाससे करावें। और अन्तः श्लेष्म लेकर इसकी भी परीक्षा कराते रहें। इससे रोगका निर्भ्रम निदान हो जाता है।

राजयक्ष्माके मुख्य लक्षण—आयुर्वेदज्ञोंने राज-यक्ष्माके ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद, पार्श्वसंकोच, दाह, अति-सार, रक्तष्ठीवन, स्कन्ध पीड़ा व भार अरुचि यह लक्षण

दिये हैं, इनमेंसे मन्दज्वर, कास, शरीर क्षीणता, पार्श्व-संकोच, स्कन्ध पीड़ा व भार रात्रि प्रस्वेद आगमन यह लक्षण तो अवश्य ही राजयक्ष्मी रोगोमें देखे जाते हैं।

अन्य अङ्गोंकी विकृति—फुप्फुस विकृतिके पश्चात् जब यक्ष्मा कीटाणु विवर्द्धित होकर अन्य अङ्गोंमें प्रसरकर वहाँ भी केन्द्रीभूत होते हैं तो जिस अंगमें यह विकृति उत्पन्न होती है उसी अंगके लक्षण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। यथा—

स्वरभंग—यक्ष्मा कीटाणु श्लेष्मके साथ निष्ठीवित होते रहनेके समय यदि वह स्वयन्त्रसे चिपट जायँ और वहाँ केन्द्रीभूत होकर ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दें तो वाणामें विकृति आ जाती है, धीरे-धीरे काल पाकर स्वरयन्त्रमें क्षत उत्पन्न हो जाते हैं इससे स्वरभंग हो जाता है। रोग बढ़ जाय तब यह चिह्न प्रकट होता है।

श्वांस—यक्ष्माकीटाणु श्वासप्रणालीमें केन्द्रित हो जाय तो प्रायः श्वांसनलीमें ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं इसीसे श्वासमार्ग तंग हो जाता है और परिश्रम करने हिलने चलनेसे रोगी श्वांस कष्टका अनुभव करता है। रोग बढ़ रहा हो, वेगवान हो तब यह लक्षण देखा जाता है।

अरुचि अतिसार—यदि रोगी खांसते समय मुँहमें आये श्लेष्मको निगलता रहे तो श्लेष्ममें विद्यमान यक्ष्मा

कीटाणु पेटमें चले जाते हैं, यदि वह आमाशय ग्रन्थियोंमें केन्द्रित होकर विवर्द्धित हों तो अरुचि भक्तद्वेष बना रहता है। यदि यह कीटाणु आंतोंमें पहुँचकर अन्त्राचूषक तन्तु-जायुओंमें केन्द्रीभूत हो जायँ तो वहाँ प्रथम रोग ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर उसे क्षतित कर देते हैं। इससे प्रहर्षण होता है और रोगीको अतिसार आने लगते हैं। यह प्रायः असाध्या-वस्थाका चिह्न है। यदि रोग बढ़े और परिविस्तृत कलातक जा पहुँचे तो जलोदर, कठोदर आदिके चिह्न दिखाई देते हैं।

रक्तष्ठीवन—जबतक रोगीके फुप्फुसमें विवर-या कोटर नहीं बनते, तबतक यक्ष्मामें श्लेष्मके साथ रक्तदर्शन नहीं होता। जब विगलन आरम्भ होकर कोटर बनने लगते हैं तो रक्त केशिकाओंका कुछ भाग यदि चूनीभवनके अन्दर आ जाय तो उक्त केशिकामार्गसे रक्त निकलकर श्लेष्म व पूयमें मिश्रित हो जाता है। इसीसे रक्तष्ठीवन होता है। किन्तु इसमें कभी रक्तकी वमन नहीं आती, न रक्तपित्तसे इसका कुछ सम्बन्ध होता है। रक्तपित्त आमाशयक्षतमें—जब आमाशयीक रक्त वाहनियाँ फटती हैं—तब होता है। आमा-शयमार्ग और फुप्फुसमार्गका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

निर्बलता व क्षीणता—राजयक्ष्मामें शरीरकी प्रत्येक धातुएँ तथा बल क्षीण होता चला जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि यक्ष्माकीटाणु एक प्रकारका विष—जो यक्ष्मा विष कहलाता है—अपने भीतर उत्पन्न करते रहते हैं,

वह विष उनकी जीवित दशामें तो शरीरसे बाहर नहीं आता, किन्तु उनके मृत होनेपर शरीरसे बाहर होता है। यह विष शरीरकी धातुओंके लिये भयंकर विष सिद्ध हुआ है। यक्ष्मा कीटाणुओंकी जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है उनकी मृत्यु-संख्या भी बढ़ती जाती है, उनकी मृत्युके साथ उनके विषकी मात्रा भी बढ़ती चली जाती है। इस विषके प्रभावसे एक ओर शरीरकी धातुओंमें रसका सात्म्यीकरण रुक जाता है। दूसरे उनके विवर्द्धन (क्षयपूर्त्ति) में बहुत बड़ी कमी आ जाती है। इसीसे शरीरका रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि आदि समस्त धातुएँ क्षीण होती चली जाती हैं। धातुक्षीणताके साथ ही शारीरिक बलमें भी काफी ह्रास होता चला जाता है। किन्तु चेहरा अच्छा चमकीला रक्ताभ स्वास्थ्य सा दिखाई देता है।

जब शरीरमें यक्ष्मा विषकी मात्रा काफी होती है तो उत्ताप, व्याकुलता, निर्बलता आदि बढ़ते चले जाते हैं और नाड़ीकी गति अधिक बढ़ी रहती है। साथमें नाड़ी पतली क्षीण होती चली जाती है। रात्रिको प्रस्वेद आता है। मानसिक स्थिरता जाती रहती है। रक्तगत कई परिवर्त्तन देखे जाते हैं। शरीरका भार प्रतिदिन कम होता चला जाता है।

यदि राजयक्ष्मा तीव्र रूपमें हो तो फुप्फुस प्रदाह, शीर्षप्रदाह, शीर्षमण्डलप्रदाह, वातोरस, पूयोरस, हृद-

विस्मृति, रक्ताल्पता, सन्धि शोथ, भगन्दर आदि अनेक रोग उससे हो जाते हैं। वह यक्ष्माके अप्रधान रोग या परतन्त्र रोग कहाते हैं। इनके होते ही रोगीका अन्त समीप आ जाता है।

उदर ग्रन्थिजन्य क्षय

लक्षण—इस रोगका बोध भी कठिनतासे होता है। क्योंकि इसमें यक्ष्मा कीटाणुओं द्वारा उदरके आचूषक तन्तुजाथुओंके पीछे जो रसाचूषणी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनमें होकर रसलसिका वाहनियोंमें जाता है—उन ग्रन्थियोंमें यक्ष्मा कीटाणु केन्द्रित हो जाते हैं। वहाँ वह उन ग्रन्थियोंमें बढ़ते तथा उन्हें बढ़ाते जाते हैं। इससे बहुत-सी अत्यन्त छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और पेटमें मन्द-मन्द दर्द रहने लगता है। बहुतोंको आरम्भमें भी ज्वर आदि कोई लक्षण नहीं देखे जाते। बहुतोंको अत्यन्त साधारणज्वर होता है। जिसका उतार-चढ़ाव इतना कम होता है कि प्रभात सायंके ज्वरमें एक आधे अंशका अन्तर रहता है। मन्द पीड़ा प्रायः नाभिके निम्न भागमें या कुछ हटकर वाम भागकी ओर होती रहती है। भोजन करने या न करने पर इस पीड़ामें कोई अन्तर नहीं आता। हाथसे दबाने पर ग्रन्थि स्थानमें रोगी दर्द मानता है। किन्तु ग्रन्थियाँ आरम्भमें छोटी होती हैं, इसलिये उसका पता लगाना कठिन होता है। वह टटोल

कर मालूम नहीं की जा सकती। कई व्यक्तियोंमें ज्वर १०१–१०२ तक होता है, ऐसी स्थितिके रोगीको देखनेसे सौम्य मन्थरज्वरका भ्रम हो जाता है। कई बार देखा गया है कि मन्थरज्वरमें भी यक्ष्मा कीटाणु उसके साथ साद्युन्त रहते हैं और जहाँ एक तरफ मन्थरज्वरके चिह्न रहते हैं दूसरी ओर यक्ष्मा ग्रन्थिज्वरके भी उसके साथ देखे जाते हैं।

बहुधा ऐसी स्थितिमें रक्त परीक्षा कराई जाय तो यक्ष्मा कीटाणुओंकी रक्तमें उपस्थिति नहीं पाई जाती। रश्मिच्च परीक्षासे भी कुछ पता ,नहीं चलता। किन्तु जब महीनों इसी स्थितिमें रोगी रहे तब कहीं जाकर सन्देह होता है। ऐसे ग्रन्थिजन्य क्षयके रोगी धीरे-धीरे क्षीण होते हैं। जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है, उदरकी ग्रन्थियाँ भी बढ़ती जाती हैं। दो चार महीनेके बाद फिर उनका कुछ पता स्पर्शसे लगने लग जाता है। उस समय रोगका रूप बहुत कुछ स्पष्ट होने लगता है। शरीर सूखता चला जाता है। ज्वर प्रभातको अत्यन्त न्यून होता है। निर्बलताके कारण ताप-मापकमें उत्ताप ९७–९८ वें अंश होता है, किन्तु नाड़ीकी गति क्षीण व द्रुतगामी देखी जाती है। सायंकालमें उत्तापकी मात्रा १०१–१०२ तक पहुँच जाती है। प्रायः पाचनशक्ति अधिक खराब नहीं होती। हाँ, कइयोंको अतिसार, अध्मान, गुड़गुड़ाहट आदिकी शिकायत देखी जाती है। इसका कारण अन्त्राशयमें प्रहर्षण होता

है। यदि उक्त यक्ष्मा कीटाणुओंका प्रभाव उदर ग्रन्थियों तक पहुँच चुका हो, तो पचन दोष भी देखा जाता है और श्वासप्रणाली प्रभावित हो गई हो तो कास भी होने लगता है। उदरग्रन्थिजन्य क्षय यद्यपि तीव्र मारक नहीं, किन्तु जल्दी ठीक नहीं होता। बड़ी कठिनतासे दबाए दबता है। वर्षों रोगी इस रोगसे रगड़ा लेता रहता है। इसके कोई विशेष चिह्न नहीं होते, किन्तु जिस-जिस अंगपर यक्ष्मा कीटाणुओंका प्रभाव पड़ता जाय उन्हीं अंगोंके लक्षण उसके साथ प्रकट होते जाते हैं। जब रोग अधिक बढ़ जाता है तब प्राय: अन्त्रके कार्य-व्यापार बिगड़ जाते हैं और रोगीको अतिसार, प्रवाहिका आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं और उसीसे उसकी मृत्यु हो जाती है।

अपचि व कण्ठमाला क्षय

कण्ठमालाका रहस्य भी इस युगकी वैज्ञानिक उन्नतिके कारण प्रकाशमें आया। और ज्ञात हो सका कि इस रोगके कारण भी वही कीटाणु हैं जो यक्ष्माके हैं। केवलमात्र उन कीटाणुका केन्द्र भिन्न होता है। दूसरे यह कीटाणु गो जातिके अंगसे मनुष्योंमें आते हैं, मनुष्य द्वारा मनुष्यमें संचार नहीं पाते।

इसी लिये यह मानवी क्षमता शक्तिके सामने निर्बल सिद्ध होते हैं। फिर भी नष्ट नहीं होते। कारण यह है कि

इनके शरीर पर एक ऐसा मेदस कवच चढ़ा होता है जिस पर न तो अम्लका कोई प्रभाव होता है न क्षारका; न किसी विपका। इसी लिये यह न जल्दी मरते हैं न पराजित होते हैं।

कण्ठमाला शरीरके उन लसिकाग्रन्थियोंका रोग है, जिसे रोगारम्भमें पहचाना जा सकता है। यह ग्रन्थियाँ ग्रीवा, वक्ष, कक्षा, वंक्षण स्थानोंमें होती हैं, जिन्हें हाथसे टटोल कर देखा जा सकता है। जब इन ग्रन्थियोंमें यक्ष्मा कीटाणु घुस कर केन्द्रीभूत होते हैं तथा उनका विवर्द्धन होने लगता है तब यह ग्रन्थियाँ बढ़ने लग जाती हैं। इसी लिये यह हाथसे टटोल कर देखी जाती हैं। यह रोग आरम्भ होते ही व्यक्त होता है जभी चिकित्सक आरम्भमें ही निदान कर लेता है, इसी लिये चिकित्सासे प्रायः आराम आ जाता है।

लक्षण—जहाँ यह ग्रन्थियाँ होती हैं स्पष्ट दिखाई देती हैं। क्षयज ग्रन्थियोंके फूटनेकी प्रवृत्ति दीर्घकालीन होती है, दूसरे चिकित्सा आरम्भसे ही होने लगती है इसलिये प्राय रोग दब जाता है। जबतक ग्रन्थियाँ फूटें नहीं तबतक उन्हें अपचि कहते हैं। जब ग्रन्थियाँ बैठें नहीं, बढ़ती चली जायँ तो काल पाकर फूटती हैं। यह ग्रन्थियाँ सारी-की-सारी एक बार नहीं फूटतीं। एक आज फूटी फिर महीनों बाद दूसरी इसी तरह तीसरी क्रमसे फूटती है और यह कण्ठमें मालावत् फैली हुई होती हैं, इसीसे इसका नाम कण्ठमाला

रखा गया। अपचिकी दशामें ज्वर बहुत ही मन्द होता है किन्तु नाड़ीकी गति ज्वरकी अपेक्षा तीव्र होती है। ग्रन्थियाँ उभरी हुई दिखाई देती हैं। चेहरेकी आकृति प्रायः गोलाई पर हो जाती है। गण्डस्थल फूला हुआ होनेसे ही चेहरा प्रायः गोल बन जाता है। इसकी आकृति राजयक्ष्माकी आकृतिसे बिलकुल भिन्न होती है। यह रोग एक बार दब जाय, तो फिर समय पाकर उभर आता है। इसका कारण यही है कि जब क्षमता शक्ति घट जाती है तब रोग बढ़ता है। जब मनुष्य स्वस्थ होता है रोग घट जाता है। यह रोग भी अधिकतर छोटे बच्चोंमें—जिन्हें गौका दूध देते हैं होता है। दूध द्वारा इसके कीटाणु बालकके शरीरमें पहुँचा करते हैं। बाल्य-कालकी रोग प्रवृत्ति युवावस्था तक इस रोगके आवर्तको अवसर देती है।

माल्टाज्वर या तरंगोज्वर

इतिहास—भूमध्य सागरमें एक माल्टाद्वीप है। यह ज्वर वहाँ अधिक पाया जाता है इसीलिये जब इसका ज्ञान हुआ तो इसे माल्टाके नामसे पुकारने लगे। धीरे-धीरे पता लगा कि यह बीमारी वहीं नहीं—अफ्रिका, अमेरिका, भारत, चीन आदि देशोंमें भी होती है। जहाँ बकरियोंका दूध लोग अधिक पीते हैं वहाँ यह ज्वर ज्यादा पाया जाता है। भारतमें यह आसाम और पंजाब व सीमाप्रान्तमें देखी जाती है। किन्तु

बहुत कम। बीस वर्षमें मुझे इसके ३ रोगी पंजाबमें देखने को मिले हैं।

कारण—यह एक प्रकारके कोका वैसलिस नामक कीटाणुओंसे उत्पन्न होनेवाला रोग है। जिसका निवास बकरियोंमें पाया जाता है। बकरियोंके दूध, मूत्र, मलमें यह कीटाणु अधिक पाये जाते हैं और यह धूल सूखी मिट्टीमें महीनों पड़े रहने पर भी नहीं मरते। इनका मनुष्य शरीरमें प्रवेश प्रायः दूध द्वारा माना जाता है। किन्तु, हमारे एक मित्र डाक्टरको अभी पिछले वर्ष यह रोग हो गया, जिन्होंने कभी जीवन भर बकरीका दूध नहीं पीया था। उन्हें दो महीनेके बाद रक्त परीक्षासे इसका ज्ञान हुआ। इसलिये यह निश्चित मत नहीं कहा जा सकता कि बकरियोंके दूध पीनेसे ही हुआ करता है। इसके कीटाणु प्रस्वेद द्वारा त्वचाके बाहर भी पहुँच सकते हैं; सम्भव है रोगी देखते समय उन्हें वहाँसे लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उन डाक्टर साहबका भी यही विचार था। यह ज्वर एक ही जातिके कीटाणुसे नहीं होता, प्रत्युत् अब तक इसके तीन सजातीय कीटाणु पाये गये हैं। जिनमेंसे एक बिन्द्वाकार कीटाणुका अस्तित्व अन्य पशुओंमें भी मिला है। सम्भव है इस रोगके कीटाणु—जब कि वह मिट्टी-धूलमें महीनों जीवित रह सकते हैं—उन पशुओंके मल-मूत्र पर मक्खियोंके बैठनेसे उनके पैरों हाथोंमें चिपट कर खाद्य, पेय वस्तुओं

तक पहुँच सकते हैं और इस मार्गसे इनका संचार होता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह ज्वर मेरे विचारमें बहुत थोड़े समयसे भारतमें आया है। दूसरे यह मनुष्योंको सताता तो कई-कई महीने है, किन्तु, प्राय: सौम्य होता है। इस ज्वरसे रोगी कम मरते हैं और इसके भिन्न भिन्न कीटाणुओंसे उत्पन्न ज्वरोंमें काफी भिन्नता होती है। कोई रोगी इसके मन्थरज्वरके सदृश्य, कोई विषम ज्वरके सदृश्य लक्षणवाले देखे जाते हैं। कई बार जब कई महीने ज्वर नहीं उतरता आता रहता है तो यक्ष्माका भी भ्रम हो जाता है।

संप्राप्ति—आयुर्वेदमें ऐसे किसी ज्वरका उल्लेख नहीं मिलता। जब इस रोगके कोई कीटाणु किसी मार्गसे शरीरके भीतर प्रवेश कर जायँ तो वह घूमते-फिरते प्लीहामें अपना केन्द्र बनाते हैं। तथा रक्तमें भी इनकी उपस्थिति काफी पाई जाती है। इनके निवाससे प्लीहाका आकार कुछ बढ़ जाता है और वहाँ नरम पुलपुली पड़ जाती है। उदरकलासे लगी लसिका ग्रन्थियोंमें भी जब यह केन्द्रीभूत होते हैं तो वहाँ भी कुछ शोथ हो-जाता है। यह रक्तमें फैल कर कीटाणुमयता उत्पन्न करते हैं तब ज्वर, पीड़ा, तृषा व मलावरोध आदि लक्षण देखे जाते हैं। कीटाणु आक्रमणसे जब तक शरीरमें कीटाणुमयता उत्पन्न न हो ज्वर आदि लक्षण नहीं उत्पन्न होते। इसके लिये अन्दाजा है कि ७ से १५–२० दिनका समय इनको वृद्धिमें लग जाता है।

लक्षण—रोगारम्भक कालमें प्रथम किसीको शिरः शूल, अरुचि, विष्टब्धता, वमनेच्छा, अंगमर्द आदि प्रागूरूपके कुछ लक्षण दिखाई देते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ज्वर होगा। एक दो दिनका समय ऐसी शारीरिक शिथिलता, उदासीनता, विष्टब्धता, अरुचि आदिके लक्षण युक्त व्यतीत होते हैं, फिर ज्वरका साधारण-सा रूप दिखाई देता है। किसी किसीको कुछ शीत भी प्रतीत होता है। शीतवाले ज्वरमें दूसरे कीटाणु होते हैं, यह ज्वर पसीना आकर उतरा करता है। यदि ज्वर तीव्र हो जाय और सारे शरीरमें पीड़ा भी तीव्र हो तथा वमन, विरेचन, ह्रास, प्रलाप, तन्द्रा आदि भी साथ हों तो यह भयंकर प्रकार होता है, इसमें कीटाणु मिश्रित होते हैं।

ज्वर—जब ज्वर होने लगता है तो वेगवान् नहीं होता। १००–१०१ अंशके लगभग होता है किन्तु प्रभातमें एक आध अंशका ही अन्तर देता है, प्रायः ज्वर पूरी तरह नहीं उतरता। यह दशा दो-दो तीन-तीन सप्ताह तक बनी रहती है फिर एकाएक ज्वर पूर्वापेक्षा काफी कम हो जाता है, प्रायः नार्मल स्थिति आ जाती है। दस-पाँच दिन ऐसा प्रतीत होता है कि ज्वर है ही नहीं। या कभी साधारण हरारत प्रतीत होती है। फिर एकाएक ज्वर १०० या १०१

तक होने लगता है और तीन-चार सप्ताह तक पूर्ववत् रहता है तथा फिर कुछ दिनके लिये साधारण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह ज्वर इस तरह ज्वारभाटावत् आता जाता रहता है, इसी लिये इसे तरंगी ज्वर भी कहते हैं। इस तरह तीन चार महीनेमें इसके कई ज्वारभाटावत् तरंग उठकर पश्चात् ज्वर शान्त हो जाता है।

इस ज्वरका मन्थरज्वरसे प्रायः भ्रम हो जाता है। किन्तु एक बात और है इस ज्वर और मन्थर ज्वरमें यह बड़ा विभेद है कि मन्थरज्वरका उतार आधी रात्रिके बाद होता है और दिनके ९-१० बजेके पश्चात् ज्वर बढ़ने लगता है, सायंकालको काफी होता है, यह क्रम इस ज्वरमें नहीं देखा जाता। यह ज्वर इस तरह इतना न्यूनाधिक नहीं होता। दूसरे यह ज्वर जब उतरता है तो प्रायः प्रस्वेद आता है। मन्थरज्वरमें प्रस्वेद नहीं आता, एक यह बात ध्यानमें रखनेकी है।

कई बार ऐसे भी तरंगी ज्वरके रोगी देखे जाते हैं जिन्हें कुछ खाँसी होती है और उन्हें मन्द-मन्द ज्वर बना रहता है तथा प्रस्वेद आकर ज्वर उतरा करता है। उस समय क्षयज्वरका भी भ्रम भासने लगता है। किन्तु ध्यानसे देखें तो दोनोंमें काफी अन्तर दिखाई देता है। तरंगी ज्वरकी नाड़ी इतनी क्षीण नहीं होती जितनी क्षयकी होती है। दूसरे तीव्रगतिकारी नहीं होती, प्रत्युत मन्द होती है।

एक यूनानी चिकित्सकका कथन है कि "समझदार व्यक्ति यदि इन गन्धोंका अनुभव अपनेमें बनाये रखे तो कई प्रकारके ज्वर इन गन्धोंके कारण अच्छी तरह पहचाने जा सकते हैं"। सम्भव है पुराने चिकित्सक इसके अभ्यस्त रहे हों।

तरङ्गीज्वरमें प्रायः अधिक विष्टब्धता बनी रहती है, इसी कारण पेटमें कुछ-कुछ दर्द, आध्मान, अरुचि आदि देखे जाते हैं। प्लीहा आरम्भसे कुछ बढ़ जाती है। यकृत स्थानमें भी दबानेसे कुछ कुछ दर्द प्रतीत होता है, किन्तु वह अधिक बढ़ा हुआ प्रतीत नहीं होता।

ज्वरके दूसरे ज्वारभाटाके समय प्रायः इस ज्वरमें सन्धिशोथ, सन्धिपीड़ा उत्पन्न हो जाती है, जिसे देख कर कई बार आमवातज्वरका भ्रम होता है। किन्तु स्मरण रहे कि प्रायः आमवातज्वरमें प्रथम सन्धि पीड़ा होकर फिर ज्वर होता है। इसमें दूसरे, तीसरे सप्ताह जब एक बार ज्वारभाटा उठकर बन्द होता है, उसके पश्चात् ज्वर होनेके समय सन्धिशोथ व पीड़ा होती है। फिर इसकी सन्धि-शोथ व पीड़ा एक सन्धिसे दूसरी सन्धि तीसरी सन्धिमें फिरती रहती है। जिस सन्धिको पीड़ा शोथ छोड़ जाती है, उसमें फिर पीड़ा शोथ नहीं रहती। आमवात ज्वरमें ऐसा नहीं होता। उसमें एक बार हुई शोथ व पीड़ा कई-कई दिन लगातार बनी रहती है। एक और बात यह है कि

जिस सन्धिमें शोथ हो उसमें तरल सञ्चित नहीं होता। शोथ, पीड़ा प्रायः शुष्क होती है। रक्तकी मात्रा शरीरमें घट जाती है, पर रोगी पाण्डुवत् पीला नहीं दिखता। यह ज्वर प्रायः तीन-तीन चार-चार मास तक ज्वारभाटावत् तरङ्गे लेकर तब कहीं पीछा छोड़ता है।

यदि रोगीकी शारीरिक अवस्था और खानपानकी व्यवस्था अच्छी न रहे तो कई बार अन्य अङ्गके गौण रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यथा हृदशोथ, नाड़ीशोथ, वृषणशोथ कर्णमूलशोथ आदि।

जब शरीरमें क्षमताशक्ति उत्पन्न हो जाती है, रोग जाता रहता है और एक बार होकर फिर नहीं होता।

कुङ्कुम ज्वर

यह ज्वर भारतमें बहुत कम देखा जाता है। पार्वतीय देशमें कहीं कहीं होता है। किन्तु उन्हीं लोगोंको अधिक होता है जो स्वच्छतासे नहीं रहते। कई-कई दिन स्नान नहीं करते, गन्दे रहते हैं, जिनके शरीर पर जूं बहुधा भरी रहती हैं और वह जूं मारते रहते हैं प्रायः उन्हें यह रोग होता है।

कारण व संप्राप्ति—यह ज्वर भी एक प्रकारसे बिन्द्वाकार जीवाणुओंके द्वारा उत्पन्न होता है। खोजोंसे ज्ञात हुआ है कि इसके जीवाणु जूं या यूकाके पेटमें रहते हैं

और उसके पेटमें उसी तरह अपना जीवनचक्र पूरा करते हैं जिस तरह मच्छरके भीतर विषमी जीवाणु।

इसके जीवाणु जूंके काटनेसे मनुष्यके शरीरमें नहीं घुसते, प्रत्युत् यह उसके मल त्यागके साथ बाहर आते हैं और जहां जूं काटती है उस मार्गसे या त्वचा रन्ध्रोंसे शरीरके भीतर घुसते हैं। या नाखूनों द्वारा जूं मारते रहनेसे उस मृत जूँका जो उदरस्थ धातुमल नाखूनों पर लगा रह जाता है, उसमें इसके जीवाणु लाखोंकी संख्यामें होते हैं। उन हाथोंसे आटा गूँथने, रोटी खाने अंगुलियोंको मुँहमें डालनेसे इसके जीवाणु पेटमें जा पहुँचते हैं, वहाँ से वह लसिका वाहनियों द्वारा रक्त द्रवमें जा पहुँचते हैं। त्वचा मार्गसे या उदर मार्गसे किसी भी तरह वह जीवाणु जब रक्तमें पहुँचते हैं तो वहाँ वह स्वेत कणिकाओंसे चिपट जाते हैं और उनके भीतर घुस कर उन्हें खाते नष्ट करते हुए वंशवृद्धि करने लग जाते हैं, इनके कीटाणुओंका केन्द्र भी स्वेत कणिकायें होती हैं। यह उन एक-एक स्वेत कणिकाओंसे कई-कई चिपके हुए उनके भीतर घुसे देखे जाते हैं। इनका वृद्धिकाल ५ दिनसे ७–८ दिनका होता है। इतने दिनमें यह प्रबद्ध हो कर ज्वरका कारण बनते हैं। यह अपनी अभिवृद्धिसे पूर्ण वृद्धितक पहुँचनेके समयमें एक प्रकारका विष भी उत्पन्न करते रहते हैं। इसीके प्रभावसे रोगके लक्षण स्फुट होते हैं।

लक्षण—इसमें एकाएक शीत लगता है और उसके कुछ समय पश्चात् ज्वर हो जाता है और जिस तरह विषमज्वरमें शिरःशूल, कटिशूल, चक्कर और वमनादि लक्षण देखे जाते हैं, ठीक ऐसे ही लक्षण इसमें देखे जाते हैं। किन्तु इसके वमनमें पित्तपात नहीं होता। किसी-किसीके सर्वांग पीड़ा वेगवान् होती है, किसीके साधारण तृषा लगती है, व्याकुलता बढ़ती है, कोई-कोई रोगी आरम्भसे ही प्रलाप करने लगते हैं। ज्वरके वेगसे एकाएक चेहरा तमतमा उठता है। पहिले ही दिन रोगी अत्यन्त ढीला-ढाला अधमरासा दिखाई देता है मानो किसी बड़े कष्टने उसे घेर लिया हो।

ज्वर—जिस दिनसे ज्वर चढ़ता है वह कम नहीं होता, प्रत्युत उसमें धीरे-धीरे वृद्धि होती है। इस ज्वरकी वृद्धि पहिले दिनसे लेकर ५–६ दिन तक अधिकाधिक होती है। पहिले दिन १०१–२ हो तो दूसरे दिन १०३ चौथे दिन तक १०४ पाँचवें दिन १०५–६ तक पहुँच जाता है और फिर कई-कई दिन बराबर वैसा ही बना रहता है। कभी-कभी तो ज्वर १०७–१०८ तक पहुँच जाता है। ऐसी स्थितिमें रोगी जल्दा मर जाता है। यदि रोगी राजी होनेवाला हो तो १०–१२ दिनके भीतर पसीना जोरसे आता है और ज्वर उतर जाता है, रोगारम्भके समयसे ही इसमें जिह्वा मैली होती है और प्रलाप, व्याकुलता,

निद्रानाश, तृष्णा वेगवान् होती है, किन्तु मूर्छा नहीं होती। आरम्भसे ही सन्निपातिक उपद्रव होते हैं पर मस्तिष्क प्रभावित नहीं होता। यह ज्वर प्रायः १० से १२ दिन तककी अवधि लेता है। नाड़ीका गति इस ज्वरमें आरम्भसे ही तीव्र पायी जाती है, जिसकी चाल प्रति मिनट १०० से लेकर १२५–१३० तक हो जाती है। इस ज्वरमें एक यह विशेषता है कि नेत्रकी पुतलियाँ सिकुड़ जाती हैं तथा शरीरसे व मुँहसे एक विशेष प्रकारकी गन्ध आती है जो मरे हुए चूहोंकी सी होती है।

पिटिका दर्शन—इसमें ज्वर चढ़नेसे पाँचवें या छठे दिन कुछ भूरे मैले रक्त वर्णके उभारयुक्त छोटे-छोटे अरहरकी दालके दाने जैसे या इससे कुछ बड़े बिन्दु छाती और पेटके अगल बगल व कलाई पर निकल आते है, फिर धीरे-धीरे सारे शरीर पर फैल जाते हैं। जिन्हें आरम्भमें अंगुलसे दबावें तो मिट जाते हैं, किन्तु अंगुली हटा लेनेके जरा देर बाद फिर दिखाई देने लगते हैं। यह विन्दु प्रायः अलग-अलग होते हैं। विन्दु जिस दिन निकलते हैं उससे ५–६ दिन बाद तक बने रहते हैं और दूसरे तीसरे दिनके पश्चात् फिर इन विन्दुओंको दबाया जाय तो फिर यह नहीं मिटते। प्रत्युत् रोगीकी दशा बिगड़ जाय तो रोगीके मृत होने पर भी यह विन्दु बने रहते हैं। अन्तिम दिनोंमें इन विन्दुओंका वर्ण लाल मिर्च जैसा हो जाता है।

कहीं-कहीं किसी-किसी की त्वचामें भूरे वर्णके धब्बे भी दिखाई देते हैं। कइयोंमें धीरे-धीरे यह विन्दु बढ़ते हुए गुच्छ रूप धारण कर लेते हैं। इस ज्वरकी अवधि १०–१२ दिनकी है। यदि इस अवधिके भीतर ज्वर अति तीव्र न हो तो बचनेकी आशा होती है। यदि ज्वर तीव्र हो जाय तो प्रायः रोगी सन्निपातिक स्थितिमें पड़ा हुआ ज्वरकी तीव्रताके कारण हृदयावसादसे मृत हो जाता है। कई व्यक्तियोंको अन्तिम दिनोंमें अतिसार लग जाते हैं। इस ज्वरके होने पर किसी-किसीको साधारणतः यकृत, प्लीहा वृद्धि होती है, तथा किसी-किसीकी लसीका वाहनियोंमें भी शोथ देखा जाता है। इस ज्वरके होने पर मूत्रल पदार्थोंकी मात्रा रक्तमें अधिक बढ़ जाती है, वह मूत्रेत् बनकर अधिक निकलने लगते हैं, इसीलिये इसमें मूत्र गाढ़ा हो जाता है। किसी-किसीको इस प्रगाढ़ताके बढ़नेसे मूत्रावरोध हो जाता है, और हाथों पैरोंमें कोथकी दशा उत्पन्न हो जाती है।

आयुर्वेदमें इस ज्वरके लक्षण रक्तष्ठीवी[1] सन्निपात व आशुकारी[2] सन्निपातके लक्षणोंसे मिलते हैं। और इसकी

---

१ रक्तष्ठीवीज्वर वमि तृषा मोह शूलातिसारः। हिक्का ध्मान भ्रमण दवथु श्वास संज्ञा प्रणाशाः। श्यामारक्ताधिकतर तनुर्मण्डलो श्लिष्टदेहः। रक्तष्ठीवी निगदित इह प्राण हर्त्ता प्रसिद्धः।

२ देखो पृष्ठ ५४।

ज्वर मर्यादा भी रक्तष्ठीवी सन्निपातसे बिलकुल मिलती है। आयुर्वेदके यह दोनों सन्निपात वास्तवमें इसी कुंकुमज्वरके दो प्राचीन नाम ज्ञात होते हैं।

अन्य ज्वरोंसे इसकी तुलना व विभेद—जिस दिन ज्वर चढ़ता है, उस दिन इसका रूप विषमज्वरसे पूर्णतया मिलता है, किन्तु विषमज्वरका उत्ताप प्रायः स्थिर नहीं होता। इसका उत्ताप स्थिर होता है। यही नहीं, प्रत्युत् धीरे-धीरे उसमें वृद्धि होती चली जाती है। आज यदि १०३ अंश है तो कल १०४, परसों १०५ हो जाता है। इसके साथ ही सन्निपातिक लक्षण प्रलाप, व्याकुलता, तृषा, वमन, सर्वांग दाह आदि उपद्रव भी होते हैं। ज्वर तीव्र हो जाने पर भी इसमें मस्तिष्कावरकमें प्रदाह नहीं होता, इसीलिये रोगी मूर्छित कम होते हैं। ज्वर चढ़नेके दूसरे ही दिन यदि नेत्र पुतलीको देखा जाय तो वह सिकुड़ी हुई होती है। विषमज्वरमें नेत्र पुतली नहीं सिकुड़ती। पाँचवें या छठे दिन जब रक्तविन्दु प्रादुर्भूत होते हैं, तो विषमज्वरका भ्रम जाता रहता है। फिर टायफाइड ज्वरके रक्तविन्दुओंसे इसके रक्त विन्दु-तद्वत् होनेके कारण इसका भ्रम हो जाता है। किन्तु दोनोंके लक्षण मिलाये जायँ तो उनमें बहुत विषमता पाई जाती है। हम इसको एक सारणी द्वारा व्यक्त करते हैं।

	कुंकुमज्वर	टायफाइड
अवस्था	यह २५ से ३५ वर्षकी अवस्थाके व्यक्तियोंको अधिक होता है और प्रायः पुरुषोंको अधिक होता है।	यह १५ वर्षकी अवस्थासे २५ वर्षकी अवस्था तकके व्यक्तियोंको अधिक होता है। स्त्री-पुरुष दोनोंको सम होता है।
ज्वर	प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा बढ़ता जाता है, किन्तु प्रभातको भी कम नहीं होता। ज्वरांशकी एक जैसी स्थिति बनी रहती है।	ज्वर प्रभातको कम और सायङ्कालको १-२ अंश अधिक होता है। यह चढ़ाव उतार नित्य देखा जाता है।
अन्त्र पेट	नाभिके आसपास कोई दर्द नहीं होता। प्रायः सख्त कब्ज रहता है।	प्रायः नाभिके आस-पास आरम्भसे ही दबानेसे दर्द होता है। प्रायः अतिसार होता है।
नेत्र पुतली	नेत्रकी पुतली सिकुड़ जाती है।	नेत्रकी पुतली फैली हुई होती हैं।
रक्तविन्दु	पाँचवें दिन निकलकर बढ़ते जाते हैं, किन्तु मिटते नहीं।	सातवें-आठवें दिन निकलकर फिर लुप्त हो जाते हैं, फिर दूसरी

	कुंकुमज्वर	टायफाइड
	एक ही बार निकल कर रह जाते हैं। उन विन्दुओंका वर्ण आरम्भमें मलिन रक्त वर्ण होता है।	बार सप्ताहान्तमें निकलते हैं। इस तरह दो-तीन बार निकलते हैं। आरम्भमें विन्दुओंका वर्ण साफ होता है।
प्रस्वेद	ज्वर जब उतरता है, खूब पसीना देकर उतरता है।	पसीना अन्त तक नहीं आता।
मस्तिष्कावरक प्रभाव	मस्तिष्कावरकमें प्रदाह नहीं होता। चाहे ज्वर तीव्र हो रहा हो। प्रायः रोगी मूर्छित नहीं होते।	ज्वर तीव्र होते ही मस्तिष्कावरकमें प्रदाह हो जाता है और रोगी मूर्छावस्थामें चला जाता है।
दाह	सर्वाङ्गमें दाह आरम्भ से होता है।	दाह नहीं होता।

इस तरह कुंकुमज्वर और टायफाइडज्वरके चिह्नोंमें काफी अन्तर होता है। समझदार वैद्य यदि इन चिह्नोंकी ओर अपना ध्यान बनाये रक्खें तो रोग जानने में कठिनता नहीं होती।

प्लेग (महामारी)

प्लेग वास्तवमें मनुष्योंमें होनेवाला रोग नहीं। यह तो चूहोंका रोग है और चूहोंको ही प्रथम होता है। जिस तरह किसी प्राणीको अपनी असली खुराक नहीं मिलती, वह भूखा मरने लगता है तो वह उस समय जो मिले, उसे ही खाकर उदरपूर्ति करता है। ठीक यही बात इस रोगके सम्बन्धमें लागू देखी जाती है। प्लेग एक कीटाणु-जन्य रोग है। किन्तु यह कीटाणु चूहों पर नहीं रहते प्रत्युत् इनका वाहन एक विशेष जातिका पिस्सू होता है जो चूहोंके शरीर पर रहता है तथा उसके रक्त पर गुजर करता है। इसके कीटाणु अपना जीवनचक्र पिस्सूके शरीरमें रहकर पूरा करते हैं और वहाँ बढ़कर वह उसके रक्ताचूषक मार्ग द्वारा चूहेके शरीर में पहुँच जाते हैं, वहाँ पहुँचकर वह फिर अपना वंश विस्तार करते हैं। उन कीटाणुओं द्वारा एक ऐसा भयंकर विष निकलता है जिससे चूहेको प्लेग हो जाता है। जिन चूहोंको प्लेग होता है उन्हें ज्वर होता है और वह चूहे बीमार पड़ते ही प्यासके कारण पानी ढूंढ़ते हुए ठण्ढी जगह व खुले स्थानमें आ जाते हैं और प्रायः मूर्छित होकर बाहर ही मर जाते हैं। जब चूहा मर कर ठण्ढा हो जाता है तो उस पर पलने वाले पिस्सू उसे छोड़ जाते हैं।

पिस्सू प्रकाशसे दूर भागता है, अँधेरा ढूंढता है, कूड़ा-करकटमें छिपनेकी चेष्टा करता है। किन्तु उस कूड़ा-करकटमें रक्त कहां ? जब वह भूखा होता है तो फिर अपने भोजनकी तलाशमें आस-पास फुदकने लगता है। यह उड़ नहीं सकता, न ज्यादा रेंग सकता है। चूहोंके शरीरमें बालोंके भीतर तो रेंगता है किन्तु मैदानमें फुदकता ही फिरता है, जिसका उत्थान १ फुट तक होता है। एक फुटसे ऊँचे उछल कर यह ऊपर नहीं पहुँच सकता।

जिस घरमें एक भी चूहा मर जाय उस चूहे पर सैकड़ों पिस्सू लदे होते हैं वह सब उसे छोड़ कर अन्य चूहोंकी तलाशमें इधर उधर भटकते फिरते हैं। यदि उनको दूसरा चूहा न मिले, आदमी मिल जाय तो उसके पाँव पर, शरीर पर चढ़ जाते हैं और वह क्षुधातुर मनुष्यको काटने लगते हैं; उनके काटनेसे उक्त प्लेगके कीटाणु उस मनुष्यके शरीरमें उतर आते हैं।

जहां चूहे मरने लगते हैं उस घरको छोड़ कर अन्य चूहे भाग खड़े होते हैं ऐसी स्थितिमें जब कि चूहोंका मरना दिखाई दे मनुष्यको उस मकानमें घुसना उचित नहीं और अंधेरी जगह जहाँ कूड़ा-करकट प । है वहाँ तो बिलकुल नहीं जाना चाहिये। कमसे कम २ महीने तक उस मकानमें नहीं रहना चाहिये। पिस्सू बिना भोजनके १-१॥ मास तक जीवित रहते देखे गये हैं, इसलिये कमसे कम दो मास तक

उस मकानको छोड़ देना ही उचित है। पिस्सुओंके मरने पर इस रोगके कीटाणु भी जल्दी मर जाते हैं। यह बीमारी छूतसे नहीं फैलती, प्रत्युत् पिस्सूके काटने पर ही इसके कीटाणु शरीरमें प्रवेश करते हैं और उसके तीसरे दिनसे लेकर ४-५ वें दिन तक रोगका रूप प्रकट हो जाता है। तथापि बहुत स्थानों पर ऐसा भी देखा गया है कि एक प्लेग रोगीके पास जो गया वह रोगी हो गया। एक जगह इतना भयंकर प्लेग हुआ कि उस घरमें रोगीको जितने आदमी खबर लेने व देखने गये और उसके मर जाने पर अरथी उठानेमें लगे प्रायः सभी आदमियोंको प्लेग हो गया। ऐसे प्लेगके सम्बन्धमें ज्ञात हुआ है कि जब प्लेग फुफ्फुसप्रदाही हो उस समय इसके कीटाणु श्वास लेते, खाँसते, छींकते हवामें आ जाते हैं। ऐसे रोगियोंके मकानका वायु ही कीटाणु-पूर्ण हो जाता है। इसीसे जो व्यक्ति उस मकानमें घुसते हैं, रहते हैं, जाते हैं, उनके श्वास मार्गसे वह कीटाणु फुफ्फुसमें जा पहुँचते हैं और फुफ्फुसप्रदाही प्लेग उत्पन्न करते हैं। ऐसे भयंकर प्लेगकी स्थिति उसी रोगीके आस-पासके वातावरणमें पाई जाती है, जो फुफ्फुसप्रदाही प्लेगसे पीड़ित हों।

प्लेगभेद—शरीरमें केन्द्र भेदसे प्लेगके प्रधान तीन भेद देखे जाते हैं। एक तो ग्रन्थिप्लेग, जिसमें रोगीके कक्षा, वंक्षण, ग्रीवा आदिकी लसीकाग्रन्थि बढ़ जाती है।

दूसरा फुफ्फुसप्रदाही प्लेग। इसमें फुफ्फुसप्रदाह ज्वरके चिह्न होते हैं। तीसरा रक्तविदूषी प्लेग। इसमें न तो ग्रन्थियाँ ही निकलती हैं न फुफ्फुसप्रदाह होता है, केवल रक्तगत कीटाणुओंके प्रभावसे रक्त विषाक्त हो जाता है। शरीरमें कीटाणुमयता और साथ-साथ उनके मरनेसे विष-मयता उत्पन्न हो जाती है।

संप्राप्ति—पिस्सुओंके काटनेसे जब किसी व्यक्तिके शरीरमें त्वचा मार्ग द्वारा प्लेग कीटाणु शरीरमें प्रवेश करते हैं तो बहुत थोड़े आदमियोंमें उसी प्रवेश स्थान पर इनकी वृद्धि देखी जाती है, जहाँ यह घुसते हैं। दो तीन दिनमें वहाँ कुछ शोथ, लालिमा, काठिन्य होकर फिर कोथ उत्पन्न हो जाता है। इस तरहकी स्थिति उन्हीं व्यक्तियोंमें दिखाई देती है जिनका शरीर पूर्ण क्षम होता है। रोगके कीटाणु ऐसे सक्षम शरीरके भीतर घुसते हैं, तो शरीरके रक्षक उन्हें आगे नहीं जाने देते, वहीं उनको रोक लेते हैं। किन्तु इन प्लेगी कीटाणुओंकी शक्ति और इनका मृत-शरीरोत्थ विष इतना प्रभावकारी होता है कि बहुत ही ऐसे सक्षम व्यक्ति होते हैं, जिनका शरीर रुग्ण न होता हो, वरना कुछ न कुछ रोगका रूप अवश्य प्रकट होता है। जिनके त्वचा स्थानपर ही विकृति उत्पन्न होती है उनको सौम्य प्लेग होता है और वह प्रायः बच जाते हैं।

जिनके शरीरमें प्लेग कीटाणु त्वचा मार्गसे घुसकर लसीका

वाहनियोंमें जा पहुँचते हैं, जब वह वहाँ बढ़ते हैं, तथा उनके मृतोत्थ विपका वहाँ प्रसार होता है, तो लसिका ग्रन्थियाँ फूल उठती हैं। जिन ग्रन्थियोंमें कीटाणु तथा इनके विषकी मात्रा केन्द्रित होती है, वही ग्रन्थि शोथपूर्ण हो जाती हैं। इस तरह किसीमें एक ग्रन्थि किसीमें दो चार ८-१० तक ग्रन्थियाँ शोथ पूर्ण हो उठती हैं। ज्वर चढ़नेके दूसरे तीसरे दिन ग्रन्थियाँ शोथयुक्त दिखाई देती हैं, तथा रोगी उस स्थान पर दर्द मानता है।

बहुतसे रोगियोंमें लसीका ग्रन्थि नहीं बढ़ती और ज्वर वेगवान् होता है। ऐसे रोगीके रक्तमें कीटाणुमयता व विपमयता उत्पन्न हो जाती है। इसीसे कोई स्थानिक विकृत विशेष नहीं दिखाई देती। रक्तस्थ कीटाणु वृद्धिके कारण तथा उनके मृत शरीरोत्थ विपके कारण आमाशय, अन्त्र, वृहदान्त्र, प्लीहा, यकृत्, फुप्फुस, मस्तिष्क, वृक, हृदय, लसीका-वाहनियाँ, शिरायें, त्वचा इत्यादि अङ्गोंमें से कोई अङ्ग उनसे अछूता नहीं बचता। सब जगह कीटाणु और उनका विप फैल जाता है, इसीसे उक्त अङ्गोंमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। किसीका यकृत, किसीका प्लीहा बढ़ा देखा जाता है। किसीका आमाशय खराब और अन्त्र दूषित हो जाता है। किसीको फुप्फुसप्रदाह हो जाता है, किसीको शीर्षावरकप्रदाह, शीर्षमण्डलप्रदाह हो जाता है। इस तरह रोगीके शरीरका रक्त विशेप दूषित हो जानेसे ऐसे

रोगी प्रायः सबके सब मर जाते हैं। यह रोग बच्चों व बुड्ढोंमें बहुत कम होता है। जवानोंको अधिक होता है और है बड़ा भयङ्कर रोग। प्रायः १०० मेंसे पाँच दस ही रोगी बचते हैं। इसका कुछ वैद्योंने अग्निरोहणी नाम दिया है। अग्निरोहिणी वास्तवमें हिमालय प्रान्तका कक्षा व वक्षण लसिका ग्रन्थि शोथवाला एक भयङ्कर रोग है। इसको पहाड़ी लोग काली टामली कहते हैं। इसमें कक्षा या वक्षणकी एक ग्रन्थिमें शोथ उत्पन्न होता है और उसमें भयङ्कर दाह होता है। कच्चा ग्रन्थि बहुत बढ़ जाती है, उस ग्रन्थिमें इतनी भयङ्कर जलन व वेदना होती है कि रोगी बुरी तरह तड़पता रहता है। किसी-किसीको ज्वर हो जाता है। दाह अवश्य भयङ्कर होता है, रोगी आधेके लगभग मर जाते हैं। जो रोगी बच जाते हैं, उनके शोथ स्थानमें कोथ उत्पन्न हो कर वह जगह मुर्दार काली जलीसी हो जाती है, इसीलिये पहाड़ी इसे काली टामली = काली शकल हो जानेवाला फोड़ा कहते हैं। किन्तु यह जनपदध्वंसनीय व्याधि नहीं है। सुश्रुतजीने इसीके लक्षण अग्निरोहिणीके दिये हैं। न कि प्लेगके; इसे उन्होंने सञ्चारी व्याधि नहीं माना है। प्लेग या महामारी सुश्रुतजीके समयमें नहीं थी।

कक्षा भागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांस दारुणाः। अन्तर्दाह ज्वर करादीप्त पावक सन्निभाः। सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम्। तामग्नि रोहणीं विद्यादसाध्यां सन्निपातिकीम्। सुश्रुत।

इतिहास—इसमें कोई संशय नहीं कि यह बीमारी आजसे दो हजार वर्ष पूर्व लीबियामें हुई थी। इसके बाद आजसे कोई १५०० वर्ष पूर्व मिश्र देशमें फैली। इसके बाद १३६६ ई० में इंगलैण्डमें बड़े जोरसे फैली और वहां कई वर्ष तक रही। वहांसे फिर टर्कीमें आई। इसके ५०-६० वर्ष बाद फारसमें फैली। इसके बाद चीनमें तथा भारतमें आई। आजसे दो ढाई सौ वर्ष पूर्व भी भारतमें एक बार हो चुकी थी, ऐसा ज्ञात होता है। किन्तु अब तो यह ५०-६० वर्षके भीतर कई बार भारतमें फैल चुकी है।

लक्षण—जब किसी व्यक्तिके शरीर पर प्लेगके कीटाणु आक्रमण करते हैं तो ३ से ५ दिनके भीतर रोगका रूप प्रकट होता है। निम्नलिखित मुख्य लक्षण प्रायः सबमें होते हैं।

किसीको थोड़ी सर्दी लग कर ज्वर चढ़ जाता है, किसीको बिना सर्दीके रोमांच हो कर ही एकाएक ज्वर हो जाता है। ज्वर पहिले ही दिन तीव्र हो जाता है। चेहरा तमतमा उठता है, नेत्र लाल हो जाते हैं। प्रायः रोगी ज्वर होने पर अच्छी तरह बातें नहीं कर सकते। हाथ-पैर काम करनेमें असमर्थ होते हैं। प्रलाप, तन्द्रा, हाथ पैर मारना, घबराना, मूर्छा, सिर दर्द, शरीर शिथिलता प्रायः देखी जाती

है। नाड़ी भारी गुरु शीघ्रगामी होती है। जिह्वा मोटी, मैली तथा शुष्क खरदरी होती है। किसी २ को वमनेच्छा आरम्भमें होती है, वमन भी आती है। ज्वर प्रायः १०४—१०५ या अधिक हो जाता है। यह ज्वर बराबर पांच सात दिन तक बना रहता है। बहुधा इसमें प्रभात व शामके समय-ज्वर की आंशिक मात्रामें कम ही अन्तर आता है। राजी होने वाले रोगियोंमें ७ दिनके बाद ज्वर कम होता है। कइयोंको १४-१५ दिन ले लेता है। भयंकर प्लेगमें रोगी सप्ताहके भीतर मर जाते हैं।

ग्रन्थि प्लेग—जब पिस्सू पैरमें काटते हैं तो प्रायः कीटाणुओंका प्रभाव निम्न वंक्षणकी लसिका ग्रन्थियोंमें होता है। यदि पिस्सू ऊपरके धड़में काटें तो ग्रीवा व कक्षाकी लसीका ग्रन्थियां प्रायः शोथपूर्ण होती हैं। प्रायः पिस्सू निम्न शाखाओं पर अधिक काटते हैं इसीसे वंक्षणकी ग्रन्थियां अधिक बढ़ती देखी जाती हैं। वंक्षण लसीकाग्रन्थिशोथ कक्षा व ग्रीवा लसीकाग्रन्थिशोथकी अपेक्षा सौम्य हैं। जितने अधिक रोगी कक्षा व ग्रीवा ग्रन्थिशोथके मरते हैं इतने वंक्षणके नहीं मरते।

ज्वर होने पर यह ग्रन्थियां बहुधा दूसरे तीसरे दिन दिखाई देती हैं; उनमें दर्द, दाह और शोथ होता है। ग्रान्थिक प्लेगमें ग्रन्थि शोथ इतना स्पष्ट लक्षण है जिसे देख

कर मूर्ख भी रोगको जान लेता है। रोग निर्णयार्थ अन्य
लक्षण इसके सामने गौण हो जाते हैं।

फुफ्फुसप्रदाही प्लेग—तीव्र ज्वर होने पर प्रायः तीसरे चौथे दिन एक या दोनों फुफ्फुसमें शोथ हो जाता है। फुफ्फुस परीक्षासे सर्वत्र कूजन ध्वनि सुनाई देती है। जहाँ कुछ काठिन्यका भाग बनने लग रहा हो वहाँ श्वास लेने पर करकर, मरमरका शब्द अन्तिम श्वास सीमामें सुनाई देता है। ठेपनसे शब्दबोध बढ़ा हुआ प्रतीत होता है तथा श्वास परीक्षा यन्त्रसे श्वास ध्वनि बढ़ी हुई दिखती है। फुफ्फुस प्रदाहके साथ ही प्रायः समस्त भयंकर सन्निपातिक लक्षण साथमें होते हैं। रोगीको खांसी आती है। किसी-किसीको खांसीके श्लेष्ममें रक्त भी मिश्रत हो कर आता है। चेहरेकी आकृति विकृत हो जाती है। मुँहके भीतर जिह्वा पर श्यामता युक्त मोटी मलिनता चढ़ी होती है। कइयोंकी जिह्वा पर कांटे ऊभर आते हैं अर्थात् जिह्वांकुर कुछ बढ़ जाते हैं। मसूढे व दांतों पर भी काफी मैल चढ़ी होती है। मुँहसे बुरी-सी गन्ध आती है। रोगी मूर्छित अवस्थामें प्रलाप करता हुआ हृदय या फुफ्फुस अवसादसे मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

रक्त विदूषी प्लेग—फुफ्फुस प्रदाही और इस प्लेगमें प्रायः ग्रन्थि नहीं निकलती। कीटाणु तथा उनके विषका प्रभाव अधिकतर रक्त पर होता है। रक्त

विषाक्त होकर समस्त शरीरके भीतरी अवयवोंको विकृत कर देता है। इस प्लेगमें ज्वर अत्यन्त तीव्र होता है। कई बार १०६-१०७ तक बढ़ जाता है। शरीरकी केशिकाएँ उत्ताप व चापके कारण फैल कर अनेक स्थानोंमें फट जाती हैं इसीसे शरीरके अनेक अंगोंसे रक्त श्राव होता है। रक्तश्राव यदि त्वचाके नीचे हो तो जगह २ श्यामवर्णता युक्त रक्तके धब्बे दिखाई देते हैं। परीक्षासे शरीरकी समस्त लसीका ग्रन्थियां कुछ फूली हुई दिखती हैं। यकृत, प्लीहा बढ़ जाते हैं। यह ज्वर इतना अधिक भयंकर व तीव्र होता है कि पहिले ही दिन रोगी मूर्छावस्थाको प्राप्त हो जाता है और दूसरे दिन ही हालत खराब हो जाती है। प्रायः पांच दिनके भीतर रोगी अधिक मर जाते हैं। ऐसे ज्वरोंका निदान चूहोंके मरनेसे हो जाता है। तथा आसपास प्लेगका पाया जाना इस बातका पुष्ट प्रमाण होता है कि इस रोगीको भी प्लेग था। लक्षणोंसे ऐसे प्लेगमें अन्य ज्वरोंका भ्रम हो जाता है, किन्तु रहा सहा भ्रम रक्त परीक्षासे जाता रहता है। इस रोगके कारणीभूत कीटाणु इतने बलवान् व शक्तिमान् होते हैं कि इसकी तुलनाके कोई भी रोगकारक कीटाणु नहीं पाये जाते। बलवान्से बलवान् क्षमता शक्ति इसके प्रतिरोधमें कम ही सफल होती है। इसीलिये जब पता चले कि आसपास प्लेग है तो शरीर संरक्षणके जितने उपाय मिलें सबको व्यवहारमें लाना चाहिये तथा

उस मकानको अवश्य छोड़ देना चाहिये जिसमें चूहे मर चुके हों। अन्य रोगोंका बहुत कुछ प्रतिकार जाना गया है किन्तु इसके विषका प्रतिकार अभी तक नहीं जाना जा सका। यह इतना भयंकर जनपदध्वंसकारी रोग है जिसके कारण ही जनसमूहका एक दौरेमें ही भारी संहार हो जाता है। इसीलिये तो इसको जनता महामारीके नामसे पुकारने लगी।

शीर्षमण्डलावरण प्रदाह

यह भयङ्कर व्याधि पहिले होती थी, इसके रोगी वैद्योंने देखे थे। भिन्न-भिन्न वैद्योंने इस रोगका भिन्न-भिन्न नाम दिया है। एक ग्रन्थकारने इसे कण्ठ कुब्ज[1] कहा है। दूसरे ने बभ्रु[2], तीसरेने याम्य[3], क्रकच पालक आदि नाम दिये हैं। इन सन्निपातोंके लक्षण इस रोगसे पूर्णतया मिलते हैं, इसीलिये वैद्य इनमेंसे जौनसे प्राचीन सन्निपातके साथ मिलाना चाहें मिला सकते हैं।

यह रोग वास्तवमें शीतप्रधान देशका रोग है। हिमालय पर्वत प्रदेश, तथा काश्मीर आदिमें देखा जाता है। कभी-कभी इस रोगका भयङ्कर संक्रमण होता है, देखते-देखते यह सारे प्रान्तमें प्रसर जाता है। १९१५ में यह एकबार जिला कांगड़ाके बर्फ प्रधान देश लाहौलमें बड़े वेगसे फैला था, उन दिनों मैं भी वहाँ था। इसका सञ्चार

---

१ देखो पृष्ठ ६३। २ देखो पृष्ठ ५५। ३ देखो पृष्ठ ५५।

इतने वेगसे हुआ कि १।। मासमें एक हजारसे ऊपर आदमी मर गये। इसके कुछ वर्ष पूर्व यह काश्मीरमें फैल चुका था। १९३४ के सर्दियोंमें यह रोग अमृतसरमें फैला, किन्तु बहुत साधारणरूपमें हुआ। शहरमें कोई सौके लगभग मनुष्य इससे पीड़ित हुए होंगे, किन्तु कोई-कोई बचा। इसके पश्चात् कभी-कभी कोई-कोई रोगी फिर भी देखे गये। लाहौरमें भी इसके कुछ केस हुए हैं। सम्भव है यह काल पाकर भारत व्यापी हो जाय; सम्भव है सीमित रहे। इसके सञ्चारके सम्बन्धमें कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

कारण—अनुसन्धानसे ज्ञात हुआ है कि यह रोग भी औपसर्गिक है। इसके बिन्द्वाकार वृक्काकृति कीटाणु होते हैं। अबतक इस रोगके उत्पादक चार सजातीय कीटाणु देखे गये हैं। चारोंसे मस्तिष्कावरण प्रदाह होता है, किन्तु युग्म बिन्द्वाकारसे जैसा भयङ्कर यह रोग होता है इतना भयङ्कर अन्य कीटाणुओंसे नहीं होता। अन्य कीटाणु इस तरह युग्म बिन्द्वाकार नहीं होते।

रोग होने पर यदि सुषुम्ना द्रवको निकाल कर उसकी परीक्षा की जाय तो रोगके कीटाणु किस जातिके हैं, यह स्पष्ट जाना जा सकता है। और कीटाणु विभेदसे रोगकी सौम्यासौम्य दशाका भी अनुमान लग जाता है।

यह रोग १२–४५ वर्ष तकके पुरुषोंको अधिक होता है। स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत कम होता है।

अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि इन कीटाणुओंका प्रसार किन माध्यमोंके द्वारा होता है। मनुष्यों द्वारा मनुष्योंमें भी इसका सञ्चार नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो जिस घरमें एक रोगी हो उसके घरमें औरोंको भी होना चाहिये, परन्तु ऐसा बहुत कम देखा जाता है। पहाड़ोंमें जहाँ इसे मैंने फैलते देखा है वहाँ धूल, गर्द, गुबारका भी चिह्न नहीं मिलता। मक्खियाँ, मच्छर ढूँढे नहीं मिलते, पिस्सू वहाँ बहुत होते हैं। कहीं-कहीं खटमल भी पाये जाते हैं। पहाड़ों पर घनी वस्तियाँ भी नहीं होतीं मकान विरल होते हैं। लाहौल निवासियोंके मकान—पशुओंके मकानोंको छोड़कर—बहुत स्वच्छ होते हैं। लोग अवश्य गन्दे रहते हैं। जूँ बहुत चढ़ी होती हैं, स्नान कई-कई मास नहीं करते। वहाँ यह रोग उस समय—जब कि मैंने देखा था—४०–५० मीलके आसपास फैला था और काफी आदमी मरे थे। ग्राम भी वहाँ काफी अन्तरसे बसे थे। सम्भव है यह जूँके द्वारा या हवाई पदार्थोंके द्वारा फैलता हो। अब तक कोई मत स्थिर नहीं हुआ।

संप्राप्ति—इसके कीटाणु मनुष्योंके नासा मार्ग व गलेमें पाये जाते हैं। यहांसे ही यह रक्तमार्गमें हो कर

सुषुम्नावरणमें प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। नासागलेमें इनके मिलनेसे यह अर्थ लगाया जाता है कि यह श्वास द्वारा वहां तक पहुँचते हैं और उसे अपना केन्द्र बनाते हैं। इनके सम्वर्द्धनसे शीर्षमण्ठलके ऊर्ध्व भागके आवरणमें प्रथम शोथ उत्पन्न होता है, इसके साथ ही वहांके विवरमें—शोथके कारण—तरलका स्राव होता रहता है। ज्वर बढ़ता है तो इसीसे आसपासके स्थानिक कोषों पर उसका काफी चाप पड़ता है। इससे भिन्न इन कीटाणुओंको मृत्युसे एक ऐसा विष उत्पन्न होता है जिसके प्रभावसे ज्वरादि तीव्र चिन्ह उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण—किसी किसीको प्रथम सिर दर्द होता है, किसीको सिरके पीछे भागमें दर्द और भारीपन प्रतीत होता। किसीको प्रथम एकाएक अकस्मात् ज्वर हो जाता है। ज्वर भी देखते २ तीव्र हो जाता है उसके साथमें सिरदर्द मन्यास्तम्भ, अग्निमान्द्य, वमन, चक्कर आदि साथ होते हैं। मन्यास्थानका दर्द व स्तम्भितरूप धीरे-धीरे पृष्ठकी ओर फैलता जाता है। चेहरा ज्वरके कारण एकदम तमतमा उठता है और नेत्र लाल हो जाते हैं। ज्वर किसी २ को १०५-१०६ तक जा पहुँचता है। एक दो दिनमें ही मन्याकी पेशियां अकड़ जाती हैं और सिर बहुधा पीछेकी ओर खिंच जाता है; घुटना सिकोड़ने व फैलानेकी शक्ति घट जाती है। प्रायः रोगी एक करवट घुटने सिकोड़े पड़ा रहता है। पैर नहीं

फैलते, नेत्र पुतलियाँ फैली हुई होती हैं। रोगी जब देखता है विस्फारित नेत्रोंसे देखता है। कइयोंके नेत्राण्ड फिर जाते हैं। रोगी प्रलाप करता है। कई मूर्छावस्थामें पड़े कुछ गुनगुनाया करते हैं। कई रोगी पृष्ठकी ओर इतने अकड़ जाते हैं कि वाह्यायाम दिखता है। पृष्ठकी मांशपेशियां प्रायः कठिन हो जाती हैं। मन्यास्तम्भ होता है। बच्चोंको रोग हो तो आक्षेप भी होता है। उदरकी मांसपेशी अन्दर घुसी होती हैं। कइयोंको चेहरे पर मुंहके आसपास पिटिकाएँ निकलती हैं। किसी किसीके शरीर पर रक्त मण्डल या रक्तवर्णके धब्बे देखे जाते हैं। कइयोंके शरीर पर छाले निकल आते हैं। नाड़ीकी गति कभी मन्द, कभी तीव्रगामी देखी जाती है। उसकी चाल स्थिर नहीं रहती। प्रायः रोगी ५–७ दिनके भीतर मर जाता है। इस ज्वरका भ्रम अन्य ज्वरोंके बहुत कम होता है। इस ज्वरके कुछ ऐसे लक्षण हैं जो किसी ज्वरमें नहीं देखे जाते। एक तो पृष्ठवंशकी मांसपेशियोंका कठिन होना, ग्रीवाका अकड़ना, पीछेकी ओर मुड़ना तथा जानुकी प्रत्यवर्त्तन क्रियाका अवरोध और ज्वर शिरःशूलादि इसके मुख्य चिह्न हैं। यदि रोगी पैर फैलाये हो उस समय उसे कहो कि वह एक पैर इकट्ठा करे। इस रोगका रोगी एक पैर कभी इकट्ठा नहीं कर सकता। एक पैरको इकट्ठा करेगा तो दूसरा भी साथमें होगा। एक पैरको फैलानेकी चेष्टा करेगा तो दूसरेमें भी गतिका चिन्ह दिखाई

देगा। इसका कारण यही है कि पैरके ओर गये हुये स्नायु-मण्डलके व्यवहारमें व्याघात आ जाता है।

इस ज्वरके अनेक रोगी जो बच जाते हैं उनमेंसे कइयोंको पक्षाघात, किसीको किसी अंगका आघात किसीकी नेत्रशक्ति, वाक्शक्तिका आघात आदि रोग हो जाते हैं जिससे इन्द्रियोंकी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। बच्चोंमें शीर्षोदक भी इसी रोगके बाद हो जाता है।

शीर्षमण्डलप्रदाह

यह ज्वर आयुर्वेदके सम्मोहनसन्निपातसे पूर्णतया मिलता है। इसमें रोगीको एकाएक ज्वर होकर सम्मोह, प्रलाप, आक्षेप, मूर्छा, भ्रम आदि उपद्रवोंके मध्य पक्षाघात हो जाता है। कई बार अनेक रोगियोंमें ज्वर तीव्र नहीं होता, रात्रिको भला चंगा रोगी सोता है सुबहसे पहिले उसका आधा अंग मारा जाता है। यह रोग प्रायः बालकोंको अधिक देखा जाता है, बड़ोंको भी होता है; पर कम। वातजन्य पक्षाघात प्रायः इसी रोगके कारणसे सम्बन्धित है।

कारण—यह भी एक प्रकारका कीटाणुजन्य रोग है और इसका संचार उसी तरह होता है जैसे शीर्ष-मण्डलावरण प्रदाहका होता है। शीर्षमण्डलावरण प्रदाहमें तो सुषुम्नाकाण्डके आवरणमें प्रदाह होता है। इसमें कीटाणु

१ देखो पृष्ठ ५२ पर।

सुषुम्नाकाण्डके अन्तस्थ धूसर कोषोंमें घुस कर वहां ५ ९ उत्पन्न करते हैं।

संप्राप्ति—इसके कीटाणु भी गले व नासामार्गमें पाये गये हैं; इसीसे अनुमान है कि इसका प्रसार भी उसी तरह होता है जैसे शीर्ष मण्डलावरण प्रदाहका। यह जब नासा-मार्गसे कण्ठमें पहुँचते हैं तो वहांसे रक्तमार्गगामी होकर सुषुम्नाकाण्डमें चले जाते हैं और उसके अन्तस्थ कोषोंको अपना केन्द्र चुनते हैं। प्रवेशकालसे रोग वृद्धिकालमें ३–५ दिनका समय अनुमानित किया जाता है।

लक्षण—कइयोंको प्रथम मन्याके पृष्ठ भागमें दर्द होता है, फिर कुछ ज्वर होकर वमनेच्छा या वमन होता है और फिर किसी समय किसी शाखाका आघात हो जाता है।

कई रोगियोंमें अकस्मात् ज्वर होकर साथमें सिरदर्द, पृष्ठवंश दर्द, वमन, भ्रम आदि लक्षण उत्पन्न होकर फिर अकस्मात् ही पक्षाघात या सर्वाङ्गका आघात होता है। कई रोगियोंको तीव्रज्वर होकर प्रलाप, मूर्छा, मद, मोह, होता है। पश्चात् अर्दित, पक्षाघात आदि हो जाते हैं। प्रायः रोगका आक्रमण अचानक होता है और पक्षाघात होते ही रोग को पक्षाघात ही समझा जाता है।

इसमें उक्त कीटाणुके कारणसे अंग सञ्चालन स्नायु मण्डलसे सम्बद्ध कोषतन्तुओंका सुषुम्नाकाण्डके भीतर

विनाश होता है। इसीसे पक्षाघात होता है। इसको अनेक चिकित्सक नहीं समझते। इसमें ज्वर प्रायः ६–७ दिन रह कर रोगी बच जाय तो—उतर जाता है। फिर पक्षाघातसे रोगी वर्षों रगड़े खाता रहता है।

यह रोग किसी-किसी प्रान्तमें अधिक होता है। नर्मदा तटके इलाकेमें यह रोग विशेष रूपसे देखा जाता है। अन्य प्रान्तोंमें भी कहीं-कहीं कभी-कभी इसके रोगी देखे जाते हैं।

ज्वरयुक्त होकर जब कभी किसी रोगीको कोई अङ्गका आघात देखा जाय तो उस समय चिकित्सकको इस रोगकी ओर ध्यान देना चाहिये। यदि इस रोगसे आघातित सुषुम्ना काण्डके कोष बिलकुल नष्ट हो गये हों तो पक्षाघातका रोगी राजी नहीं होता। यदि उनमें जीवनके चिह्न बाकी हों तो फिर वह धीरे-धीरे सचेत होते चले जाते हैं और रोगी वर्ष दो वर्षमें ठीक हो जाता है।

यह रोग उपमस्तिष्क मूलसे लेकर त्रिकूटकके सुषुम्ना-काण्डमें कहीं भी अन्तस्थ कोषोंको अपना केन्द्र चुन लेता है। इस सुषुम्नाकाण्डसे ही समस्त शरीर सञ्चालनके लिये स्नायु निकलते हैं। जिस सुषुम्ना स्थानमें रोग होता है, उसीसे सम्बन्धित अङ्गोंका आघात होता है। यह जरूरी नहीं कि एक पक्षका ही आघात हो।

फुप्फुस प्रदाहज्वर

तुलना—आयुर्वेद ग्रन्थोंमें दिये सन्निपातोंमेंसे इस ज्वरकी विस्फोरक[1], विधुफल्गु[2], अभिन्यास[3] और कर्कोटकसे[4] तुलना होती है। कर्कोटकसे तो यह पूर्णतया संतुलित होता है। एक २ लक्षण मिल जाते हैं। केवल कारणोंमें ही अन्तर रहता है।

कारण—इस ज्वरके कारण भी एक प्रकारके कीटाणु हैं। इन कीटाणुओंकी अब तक चार जातियाँ जानी जा चुकी हैं। भिन्न-भिन्न जातिके फुप्फुसप्रदाही कीटाणुओंसे भिन्न भिन्न भेदका प्रदाह होता है तथा रोगकी तीव्रता मन्दतामें भी अन्तर होता है। पहिले और तीसरे प्रकारके कीटाणुसे तीव्र प्रकारका फुप्फुसप्रदाह होता है। चौथेसे सौम्य होता है। यदि आरम्भमें इन कीटाणुओंको पहचान लिया जाय तो रोगकी स्थितिके सम्बन्धमें बहुत-सी बातोंका निश्चिय हो जाता है तथा साध्यासाध्यका भी ज्ञान बना रहता है।

विभेद—यह रोग कारणोंसे युक्त स्वतन्त्र और परतन्त्र दो भेदका होता है।

---

१ देखो पृष्ठ ५२, २ देखो पृष्ठ ५१, ३ देखो पृष्ठ ५१, ४ देखो पृष्ठ ६५।

(१) स्वतन्त्र—स्वतन्त्र तो वह है जिसमें इसके कीटाणु सीधे फुफ्फुसमें पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं।

(२) परतन्त्र वह है जो अन्य रोगोंके समय—उस रोगके मध्य हो जाता है।

यथा—प्लेग, शीर्षमण्डलावरणप्रदाह, मन्थरज्वर, श्वसनकज्वर, कण्ठारोहण, कालीखांसी, प्रसूताज्वर आदि अनेक संचारी व तीव्र ज्वर। ऐसे परतन्त्र रोगके साथ होनेमें यह आवश्यक नहीं होता कि फुफ्फुसप्रदाही कीटाणु ही उपस्थित हों। इसमें कभी उसी रोगके कीवाणु या कीटाणुओंका प्रदुर्भाव होता है, कभी श्वसनकज्वरके कीटाणुओंका, कभी फुफ्फुसप्रदाही कीटाणुओंका होता है। अन्य तीव्र ज्वरोंमें प्रायः उस समय अधिकतया फुफ्फुसप्रदाहकी प्रवृत्ति पाई जाती है, जब ज्वरकी मात्रा १०५ के लगभग बनी रहती हो। १०४ के भीतर ज्वर रहे तो बहुत कम फुफ्फुसप्रदाह होता है, इससे अधिक ज्वर होने पर जो फुफ्फुसप्रदाह होता है वह प्रायः उत्ताप असह्यताके कारण या जैवी विषके कारण उत्पन्न होता है। साथमें फिर अन्य जैवोंका वहाँ पर आगमन उसकी वृद्धिमें सहायक हो जाता है।

साध्यासाध्यता—यह रोग एक तो स्वभावतः घातक होता है। क्योंकि शरीरमें फुफ्फुस बहुत ही मृदु अंग है, दूसरे शरीरके रक्तका संशोधन भी फुफ्फुसोंमें ही आकर होता है। इससे भिन्न शरीरमें ऊष्मजनवायु भी फुफ्फुस

मार्गसे ही शरीरमें पहुँचता है। इस शुद्ध वायुके पहुँचते रहनेसे अर्थात् इसकी गतिसे ही जीवन बना रहता है। श्वास प्रश्वासकी गति फुप्फुस तक ही होती है, उस तरह गति चाहे उदर तक हो। फुप्फुसकी गति और उसके ऊम्मजन-अर्थात् प्राणवायु—ग्रहण करनेकी शक्ति पर ही जीवन निर्भर है। जब तक फुप्फुसकी गति बनी रहती है उसे हम देख कर कहते हैं कि इसमें अभी प्राण है, जब गति बन्द हो जाती है तो उसे प्राणरहित कहते हैं। फिर यह महत्व पूर्ण अंग इतना नाजुक है, इतने सूक्ष्म मांसल कोष्टोंका बना है कि जिसपर तीव्र सर्दी गर्मीका सीधा ही सबसे प्रथम प्रभाव होता है। तभी तो अनेक व्यक्तियोंको सर्दी लगकर चट फुप्फुस-प्रदाह हो जाता है। तीव्र ज्वरोंमें विषाक्त रक्त जब शुद्ध होनेके लिये फुप्फुसमें पहुँचता है तो उसकी विषमयतासे फुप्फुस भित्तियाँ प्रायः प्रदाहित हो उठती हैं, इसीलिये तो जब ज्वर तीव्र हो शीघ्र फुप्फुसप्रदाह हो जाता है। एक तो तीव्र औपसर्गिक रोगकी रोगकारणी शक्तियाँ उसी तरह कष्टसाध्य होती हैं, यदि उन सञ्चारी ज्वरोंके मध्य कहीं फुप्फुसप्रदाहका कोई अन्य कारण भी पहुँच जाय तो रोग और भी कष्टतर साध्य हो जाता है। इसी तरह जब यह स्वतन्त्र रोग हो और इसके कीटाणु बलवान् हों तथा उनका प्रभाव दोनों फुप्फुसों पर पड़ा हो तो प्रायः रोग असाध्य होता है। जब यह रोग स्वतन्त्र रूपेण हो रहा हो उस समय उसका

परीक्षा नाड़ीदर्शन या प्रश्नसे नहीं हो सकती। इसकी परीक्षा ठेपन विधि व फुप्फुस परीक्षक यन्त्रसे ही ठीक-ठीक होती है। इस फुप्फुस रोगके लिये फुप्फुस परीक्ष्य यन्त्र (स्टैथस्कोप) एक अत्यावश्यक यन्त्र है। इसे वैद्योंको दिखाने मात्रके लिये नहीं रखना चाहिये। प्रत्युत सम्यक् ज्ञान सम्पादनार्थ इसका उपयोग सीखना चाहिये। निदान-में इससे पूरी-पूरी सहायता मिलती है।

रोग-भेद—फुप्फुसप्रदाही कीटाणुओंकी वृद्धि प्रायः ऋतु परिवर्तन कालमें अधिक होती है, या जब दो चार दिनके लिये आसमान बादलोंसे घिरा रहे और एका-एक ऋतुमें दो चार दिनके लिये अन्तर आ जाय तो उस समय भूमण्डल पर इन कीटाणुओंकी वृद्धि बड़े वेगसे होती है और उस समय इस रोगका संक्रमण अधिक दिखाई देता है। प्रायः इस रोगके कीटाणु धूलकण, जलकण और श्लेष्मके शुष्क कणोंमें अधिक लगे हुए पाये जाते हैं और इनका प्रवेश प्रायः श्वास मार्गसे अधिक होता है। जब यह नासा मार्ग, मुखमार्गसे गले तक पहुँच जाते हैं तो यह वहाँसे होकर श्वासप्रणालीमें जा घुसते हैं और फुप्फुसमें पहुँच कर कहीं भी अपना केन्द्र बना सकते हैं। समस्त श्वास-प्रणाली व फुप्फुस इनका केन्द्र हो सकता है, उसके हर स्थान पर यह वृद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

इस रोगके उत्पादक कोई भी कीटाणु यदि स्वरयन्त्र तक

ही सीमित रहें और वहीं पर प्रदाह उत्पन्न करें तो उससे यन्त्र प्रदाह होता है। यदि यह कीटाणु श्वासप्रणालीमें पहुँच कर वहीं केन्द्रित हो जायँ, आगे न बढ़ें तो इनसे श्वासप्रणालीका प्रदाह (ब्रांको न्यूमोनियाँ) होता है और कहीं यह आगे बढ़कर फुफ्फुसकी शाखा प्रणालियोंमें पहुँचकर वहाँ केन्द्रित हो जाँय— जो बहुत कम देखा जाता है—तो इनसे फुफ्फुस प्रणाली प्रदाह होता है। और यह कीटाणु वहाँ से बढ़ कर फुफ्फुस वायु कोष्ठोंमें पहुँच जाँय और वहाँ किसी खण्डमें विवर्द्धित होते हुए प्रदाह उत्पन्न करें तो उससे खण्ड फुफ्फुस प्रदाह होता है और उन कोष्ठोंसे आगे बढ़ जाँय और उसके आवरक तक जा पहुँचे— जो प्रायः ऐसा देखा जाता है—तो फुफ्फुसावरक प्रदाह हो जाता है। जिसे हम पार्श्वशूलके नामसे अभिहित करते हैं। और यह कहीं दोनों फुफ्फुसोंको घेर लें तो डबल फुफ्फुसप्रदाह होता है। एकमें हो तो एक फुफ्फुस प्रदाह होता है। इस तरह यह एक ही कीटाणु स्थान भेदसे बिभिन्न लक्षण सम्पन्न, रोगोंको उत्पन्न कर देते हैं।

इस रोगके सम्बन्धमें बहुत अधिक अनुसन्धान हुआ है। अनुसन्धानसे पता लगता है कि इस रोगके कोई न कोई कीटाणु मनुष्योंके गलेमें, नासामार्गमें, श्वास प्रणालीमें सदा बने ही रहते हैं। सौ मनुष्योंमें से ७०–८० में पाये जाते हैं। किन्तु शरीरके सक्षम बने रहनेके कारण इनकी वृद्धि

नहीं हो पाती। परन्तु, जब ऋतु परिवर्त्तनादि कारण या शरीरमें विकृति उत्पन्न होनेके कारण क्षमता शक्तिका ह्रास होता है तो ऐसे अवसरों पर इनको बढ़नेका अवसर मिल जाता है। इसीसे रोगकी दशामें या शीतादिका प्रभाव होनेकी दशामें इनका सम्वर्द्धन खूब होता है। इसीसे मनुष्य इनका जल्दी आखेट बन जाता है। कुछ विद्वानोंकी राय है कि ऋतुपरिवर्त्तनादिके समय शरीरमें बाहरसे भी इसके कीटाणु पहुँचते हैं। खैर, कुछ भी हो यह शरीरकी अक्षमतासे ही लाभ उठाते हैं। संचारी व्याधियोंमें एक क्षय दूसरा फुफ्फुस प्रदाहीज्वर जितने अधिक व्यापक हैं इतनी कोई भी संचारी व्याधि व्यापक नहीं। सबसे अधिक मृत्यु संख्या क्षय द्वारा कूती जाती है, किन्तु मेरा अनुमान है कि इस ज्वरसे भी मृत्यु संख्या कम नहीं होती। हरएक तीव्रज्वरमें अनुगामीरूपसे तो यह देखा जाता है, फिर स्वतन्त्र भी देखा जाता है। यदि अनेक रोगों में यह रोग रोगानुगत न हो तो रोगीके बचनेकी काफी आशा होती है। जहाँ किसी संचारी रोगमें फुफ्फुसप्रदाह हुआ कि चिकित्सक समझ लेता है, इस नव्यरोगका आगमन मृत्युका सूचक है। वास्तवमें यह और क्षय दोनों ही एक जैसे शरीरकी अक्षमतासे उत्पन्न होकर बढ़नेवाले तथा अवसर पाकर आखेट करनेवाले रोग हैं, इसीलिये यह दोनों एकसे मारक हैं। यह प्राय: अनेक संचारी ज्वरोंके मध्य हो जाता है और स्वतन्त्र भी

होता है, इसी कारण इस रोगके होने पर अन्य ज्वरोंके सांमजस्यसे जो लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं वह बहुत विभेद-युक्त होते हैं। अनेक सन्निपातोंका आयुर्वेदमें जो उल्लेख पाया जाता है वह वास्तवमें इस रोगके अन्य रोगानुगत होनेके कारण जो विभिन्नता उत्पन्न होती चली आई थी—मेरे तो विचारमें उन्हींको भिन्न-भिन्न सन्निपातोंके नामसे अभिहित किया गया है। ज्यादातर सन्निपात इस एक रोगके लक्षणयुक्त विभिन्नताको लिये नामान्तरसे आये हैं। यही सबसे पुराना एक वैदिक सन्निपात है और सुश्रुतजीका बताया हुआ अभिन्यास भी यही है।

सम्प्राप्ति—इस रोगके कीटाणु जब रोग उत्पन्न करते हैं तो जहाँ अपना केन्द्र स्थापित करते हैं, वहाँके उक्त स्थानमें प्रथम शोथ उत्पन्न हो जाता है। प्रायः वाम फुप्फुसकी अपेक्षा दहिना फुप्फुस और ऊर्ध्वखण्डकी अपेक्षा निम्नखण्ड अधिकतर प्रथम विकृत होता है। पश्चात् धीरे-धीरे यह विकृति अन्य भागोंमें फैल जाती है। तीव्र रोगाक्रमणमें दोनों फुप्फुसोंमें एक बारगी ही विकृति उत्पन्न हो जाती है। जब फुप्फुस शोथ होता है तो उसके साथ ही यह कीटाणु एक ऐसा विष उत्पन्न करते हैं जो धीरे-धीरे फैलता चला जाता है और उसके प्रभावसे फुप्फुस प्रभावित होते चले जाते हैं। इसी कारण आस-पास शोथ बढ़ता चला जाता है प्रायः शोथका प्रभाव श्वासप्रणाली व उसके

आवरणमें भी कुछ न कुछ होता है। जब रोग एक खण्डमें बढ़ रहा हो, उस समय फुफ्फुस परीक्षकयंत्रसे देखा जाय, यदि रोग बढ़ावकी ओर हो तो उसका ज्ञान फुफ्फुस परीक्षकसे बहुत अच्छी तरह लगता चला जाता है। श्वांस लेनेकी अन्तिम स्थितिके समय स्पष्टतया करकर मरमरका शब्द जिधर शोथ बढ़ रही हो—बढ़ता दिखाई देगा। इन कीटाणुओंसे फुफ्फुसके जिन स्थान पर शोथ उत्पन्न होता है, उस स्थानके वायु कोष्ठीय कोष शोथित होकर ठोस होते चले जाते हैं। शोथके पश्चात् उक्त स्थानमें काठिन्य होनेका समय ६ घण्टेसे लेकर २२-२४ घण्टेतक लग जाता है। जो स्थान ठोस होता चला जाता है उसे यकृती भवन कहते हैं। शोथ स्थानमें तथा उसके आस-पास रक्ताभिसरण कम हो जाता है। कोष और उनसे बने कोष्ठ सबके सब रक्तपूर्ण ठसाठस भरे कठिन होते चले जाते हैं, वहाँ पहुँचा हुआ रक्तस्थ पदार्थ फिर वापस नहीं आता। ऐसी दशामें उक्त खण्डके यकृती भवनमें फिर वायुका भी सञ्चार नहीं होता। फुफ्फुस परीक्षक यन्त्रको उस समय वहां रखकर शब्दबोध लिया जाय तो अन्तः कोष्ठीय शब्दबोध नहीं होता। जो शब्द बोध होगा वह वायु प्रणालीका ही ज्ञात होगा, शोथके पश्चात् यकृती भवनकी प्रक्रिया प्रायः ३ से ७ दिन तक चलती है। यदि रोगी अच्छी स्थितिकी ओर जाने लगे तो जहाँ प्रथम रोगारम्भ हुआ था वहाँ

प्रथम मृदुता आने लगती है और धीरे-धीरे काठिन्य मिटने लगता है। सञ्चित पदार्थ स्थानान्तरित होने लगते हैं और धीरे-धीरे वहाँ के कोष्ठोंमें वायुका सञ्चार प्रतीत होने लगता है। वह रोगी फुफ्फुस पदार्थोंके द्रवी भवनमें लगभग ३ से लेकर ६—७ दिन तक ले लेता है। जहाँ शोथके पश्चात् फिर कोथ उत्पन्न होने लगे वहाँ सजीव कोष मृत हो जाते हैं, वह कोष द्रवीभूत पदार्थमें मिलाकर स्थानान्तरित होने लगते हैं, तथा उनके स्थान पर नये कोषोंकी रचना प्रारम्भ हो जाती है। द्रवीभूत पदार्थ बहुत कुछ श्लेष्म रूपमें, पूय रूपमें, थूकसे बाहर होते रहते हैं। कुछ भाग रक्तद्रवमें घुल मिलकर स्थानान्तरित हो जाता है, जिसे वृक्क बाहर करते रहते हैं। फुफ्फुसका जो जो स्थान ठीक होता जाता है, यदि उसे चिकित्सक नित्य फुफ्फुस परीक्षक यंत्र द्वारा देखता रहे तो इस स्थितिमें उसे फुफ्फुस यन्त्रके उपयोगके लाभका अच्छा ज्ञान हो सकता है। जो शब्दान्तर इस समय देखा जाता है, वह फिर अनुभवमें आ जाता है, उसे वह कभी नहीं भूलता। जैसे-जैसे काठिन्य मिटता जाता है वैसे-वैसे फुफ्फुसके व्रत पूर्ण स्थान भरते चले जाते हैं और रोगी १५—२० दिनमें ठीक हो जाता है।

प्राय: फुफ्फुसप्रदाहीज्वरमें फुफ्फुसके भीतर क्षत या विद्रधि बहुत कम बनती है। हाँ, उन व्यक्तियोंमें जो सिगरेट, तम्बाकू, मद्य आदिका अधिक सेवन करते रहते हैं

या वह किसी अन्य रोगके रोगी हों उनके फुप्फुसमें अधिक कोथीभवन व्रण व विद्रधिकी सम्भावना होती है।

फुप्फुसप्रदाह होने पर रोग अपनी अवधिको पार कर जाय और स्थित समय पर न बदले, कोई उदर सम्बन्धी विकार इसमें सहायक हो रहे हों तो कभी-कभी देखा जाता है कि शोथमें काठिन्यके पश्चात् उस काठिन्य भागका विगलन शीघ्र नहीं होता। उस समय फुप्फुस कोष्ठोंमें तान्तवीय धातुओं का संचय होने लगता है, इससे उक्त कोष्ठोंमें स्थूलता आ जाती है और वह विकृति स्थाई रूप धारण कर लेती है, ऐसा विकार जल्दी ठीक नहीं होता। इस बातका ध्यान वैद्योंको रखना चाहिये।

इस रोगकी अवधि प्रायः १२-१३ दिनकी है जब रोगका क्रम ठीक तरहसे चल रहा हो ऐसी दशामें १२-१३ वें दिन ज्वर कम हो जाता या उतर जाता है। श्लेष्मका वर्ण बद-लने लगता है और धीरे धीरे रोगी दो-चार दिनमें ठीक हो जाता है। यदि १३-१४ दिन व्यतीत होने पर भी रोग न घटे तो यह समझना चाहिये कि इस रोगके विषका प्रभाव अभी नहीं घटा है न शरीरमें प्रतिविषकी प्रतिक्रिया ठीक हो पाई है।

इस रोगका शमन तभी होता है जब शरीरमें प्रतिविष उत्पन्न होने लग जाय। प्रतिविष उसी स्थितिमें जल्दी उत्पन्न होता है जब उदर विकृति न बढ़े। उदर पर विशेष ध्यान रखना चाहिये, ताकि वह न बिगड़े। यदि उदरमें विकार

बढ़ गया हो तो इसका प्रभाव रक्तस्थ बना रहने पर शरीरमें रोग प्रतिकार शक्ति जल्दी प्रादुर्भूत नहीं होती, इसी लिये रोग अपनी अवधिसे आगे बढ़ जाता है।

लक्षण—यह रोग जब परतन्त्र हो तो उस स्थितिमें इसके अपने लक्षणोंमें अधिक विशेषता नहीं रहती। स्वतन्त्र रोगके जो लक्षण विद्यमान होते हैं, उसके साथमें ही खांसी, श्लेष्मस्राव, जिह्वा पर मलिनता, श्वास, हिक्का आदि इसके कुछ लक्षण उत्पन्न होकर बढ़ जाते हैं। श्लेष्म विशेष वर्णका आता है, किसी किसीके श्लेष्ममें रक्तका मिश्रण भी होता है। अधिकतर प्रधान रोगके यही लक्षण होते हैं। ऐसी दशामें बहुधा वैद्य इन्हें उपद्रव मान लेते हैं। इसका कारण यही होता है कि वह रोगकालमें समय-समय पर भीतरी अंगोंकी परीक्षा नहीं करते। रोगकालमें उपद्रवके बढ़ते ही यदि वैद्य यह जानते रहें कि यह उपद्रव—जो उठ खड़े हुए हैं—किस अंगकी विकृतिसे उठ खड़े हुए हैं? कैसे उठे हैं? ऐसा समझनेकी चेष्टा करें तो उन्हें स्वतन्त्र और परतन्त्र रोगोंके अन्तरमें अच्छा ज्ञान हो सकता है, तथा एक रोगमें दूसरे रोगके आगमनका बोध भी हो सकता है। फुफ्फुसप्रदाह रोग स्थान भेदसे कई प्रकारका है, इसी लिये इसके लक्षणोंमें भी भिन्नता होती है। तथापि जब यह स्वतन्त्र रूपेण हो तो उस स्थितिमें इसके लक्षण निश्चित होते हैं। इस रोगका संचयकाल बहुत कम है, कई बार तो १०-१२ घंटेमें ही इस रोगके लक्षण

स्फुट हो जाते हैं। बहुधा संचयके लिये दो तीन दिन लग जाते हैं, प्रायः रोगारम्भ एकाएक होता है। किसीको सर्दी लगकर ज्वर हो जाता है, किसीको प्रतिश्यायके बाद ज्वर हो जाता है और वह ज्वर धीरे-धीरे १०३–१०४ तक जा पहुँचता है। ज्वरके साथ ही सिर दर्द, व्याकुलता, उदरविकार, और शुष्क कास साथ होता है। यदि इन कीटाणुओंका प्रभाव फुप्फुसावरक पर भी साथमें हो तो पार्श्व-शूल भी होता है। प्रायः छातीमें दर्द होता है। रोगका प्रभाव एक ओर हो तो एक ओर दर्द होता है, दोनों ओर हो तो दोनों ओर दर्द प्रतीत होता है। छाती जकड़ी हुई सी भारी प्रतीत होती है। श्वासकी गति ३० से ५० तक बढ़ी हुई होती है। नाड़ीसे उसका अनुपात ३::१ या २::१ तक होता है। नाड़ी भारी उछल-उछल कर चलती है, श्वास लेनेमें रोगी कष्टका अनुभव करता है, चेहरे पर ललाई छाई हुई होती है, रोगी नथुने फुलाकर श्वास लेता है। ज्वरका चढ़ाव उतार प्रभात व सायंकालके समयमें केवल १–२ अंशका ही अन्तर पड़ता है। धीरे-धीरे निद्रा घटती जाती है, जिह्वापर मैल चढ़ी होती है, रात्रिको नींद कम आती है, व्याकुलता अधिक रहती है। यदि विषमयता बढ़ जाय तो प्रलाप, मूर्छा, ज्वरकी अधिकता, तृषा, उठ-उठ कर भागना, खाँसीका वेग बढ़ जाता है, नेत्र चमकीले हो उठते हैं, मानो जल भरा हो, पुतलियाँ कुछ फैली हुई होती हैं। दो तीन दिन

व्यतीत होने पर किसी-किसीके होठ पक जाते हैं, वहाँ फुन्सियाँ दिखाई देती हैं। अब श्लेष्मा थोड़ी-थोड़ी निकलने लगती है जिह्वाका वर्ण मैला काला होता है, श्लेष्मका वर्ण भी धीरे-धीरे मण्डूर वर्ण लाल भूरा-सा होता चला जाता है, उसमें लहेस बहुत होता है, मूत्र थोड़ा आता है, इसी लिये वह गाढ़ा मूत्राम्ल युक्त होता है, उसमें लवणकी मात्रा बहुत घट जाती है। जिस ओरके फुप्फुसमें शोथ काठिन्य हो रहा हो रोगी उस करवट पड़े रहनेमें सुख मानता है। आरम्भमें ठेपन विधिसे रुग्णस्थलको ठेपित किया जाय तो उक्त स्थलसे डिमडिमकी ध्वनि उत्थित होती है। जो दो-तीन दिनमें घट जाती है, किन्तु जब फिर काठिन्यसे विगलित दशा उत्पन्न होती है यह ध्वनि फिर उत्थित होने लगती है। छातीके दोनों पार्श्वों पर दोनों हाथ रखलें तो जिस ओर विकृति होगी दूसरेकी अपेक्षा वह पार्श्व कम फैलता प्रतीत होगा, किन्तु कुछ उठा हुआ होगा, और रोगी बोल रहा हो तो जिधरके पार्श्वमें विकृति होगी शाब्दिक तरङ्ग अधिक प्रतीत होंगी।

फुप्फुस परीक्षकयन्त्रसे समय-समय पर परीक्षा लेते रहे तो आरम्भमें उस भागसे करकर मरमर शब्द सुनाई देगा, फिर घट जायगा। आगे चलकर बिलकुल प्रतीत न हो तो यह ठोसके लक्षण हैं। ठेपनसे भी वह स्थान ठोस शब्द देता है। श्वासप्रणालीके पास आकर यन्त्र

रक्खें तो वहाँ श्वास व शब्द दोनों स्पष्ट होंगे, किन्तु कई बार यहाँ भी कुछ बुदबुद चींचींकासा शब्द सुनाई देता है। यदि आवरणमें शोथ हो गया हो तो उस जगह मरमर करकरके रगड़की ध्वनि सुनाई देती है। जब ठोसावस्थासे आगे विगलनावस्था आरम्भ हो जाती है फिर ध्वनिकी प्रतीति होने लग जाती है।

इस ज्वरकी मर्यादा १२ दिनकी है। यदि रोग स्वतन्त्र हो और अन्य रोगोंका बीचमें मिश्रण न हो जाय, कोई उपद्रव न उठ खड़ा हो तो यह ज्वर १२–१३ दिनमें उतर जाता है। ज्वर उतरते समय पसीना भी आता है और रोगी अपनेमें स्वस्थ्यताका अनुभव करता है।

स्थूल लक्षण—पहिले दिन प्रायः पार्श्वशूल उठता है और ज्वर हो जाता है, साथमें सूखी खाँसी होती है, जिह्वा पर श्वेत किन्तु मोटी मलिनता चढ़ी होती है। तीसरे दिन जिह्वाके मैलका वर्ण मिट्टी वर्ण कुछ श्याम पीला हो जाता है। और एक दो दिनके बाद श्लेष्म थोड़ा किन्तु बड़ा लहेसदार मण्डूर वर्ण या लाल पीला गाढ़ा आने लगता है श्वास लेनेमें कष्ट होता है, इसीसे रोगी उथला श्वास लेना दिखाई देता है नाड़ी भारी धक्के मारकर तीव्र गतिसे चलती है। विषमयता प्रायः तीसरे दिन बढ़ती है, उसके साथ ज्वर भी बढ़ता है। यदि ज्वर १०४ से ऊपर चला जाय तो प्रलापादि सन्नि-पातिक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, निद्रानाश प्रायः होता है।

मूत्र न्यून तथा उसमें लवणका अभाव और मूत्राम्लकी वृद्धि यह चिह्न अन्य ज्वरोंसे इसको पृथक् करते हैं।

अन्य मारक रोग—इस रोगके कीटाणु जब फुफ्फुस प्रदाह उत्पन्न करते हैं तो पाठक यह न समझ लें कि वह वहीं तक सीमित रहते होंगे; यह बात नहीं। इनकी वृद्धि जब बड़े वेगसे होती है तो यह केन्द्रसे निकल-निकल कर सारे शरीरमें फैलते चले जाते हैं। जिस तरह यह स्वयम् बढ़ते व फैलते हैं, उसी तरह इनका विष भी बढ़ता व शरीरमें फैलता चला जाता है। इन दोनोंका प्रभाव शरीरके निम्न-लिखित अङ्गों पर अधिक होता है। हृदय, हृदयका आवरण, हृदयकी माँसपेशी, मस्तिष्क, मस्तिष्कका आवरण, फुफ्फुसा-वरण, शरीरके सन्धिस्थल, कर्णमूलग्रन्थि, यकृत, परिविस्तृतकला, पाचकग्रन्थियाँ, वृक, प्लीहा आदि। प्रायः फुफ्फुसप्रदाहसे जो रोगी मरते हैं उसका मुख्य कारण यही होता है कि हृदयावरण, हृदकपाट व हृदयमें इस रोगके कीटाणु और उसका विष पहुँचकर वहाँ शोथ उत्पन्न कर देता है। इसीसे हृदयावरणशोथ हृदकपाटशोथ, हृदय-शोथ, व हृदय-अन्तः-शोथ उत्पन्न होकर वह हृदयकी गतिको एकाएक अवसादित कर देता है, इसीसे अकस्मात् मृत्यु हो जाती है। इसी लिये चिकित्सकको फुफ्फुसप्रदाह होने पर हृदयकी स्थितिकी ओर सदा ध्यान बनाये रखना चाहिये और हृदय परीक्षक यन्त्रसे उसकी गतिका अध्ययन

करते रहना चाहिये। नाड़ी अनियमित या रुक-रुक कर ठहर-ठहर कभी वेगवान्, कभी मन्द जब चलती दिखाई दे तभी समझ लेना चाहिये कि हृदयके किसी भागमें रोगका विकार फैल गया है, उस समय सावधानीसे इसकी जाँच करनी चाहिये। प्रायः हृदयरोग, मस्तिष्क व उसके आवरक के शोथ असाध्यावस्थाके सूचक होते हैं।

कर्ण मूल ग्रन्थि शोथ[1] भी इसी ज्वरमें कभी-कभी किसी-किसीको देखा जाता है। यह शोथ कभी रोगके आरम्भमें, कभी मध्यमें और कभी ज्वरके अन्तमें होता है।

यदि किसी रोगीका आमाशय अत्यन्त विकारी हो जाय और पाचक रसस्रावी ग्रन्थियोंमें शोथकी दशा उत्पन्न हो तो ऐसी दशामें जिह्वांकुर पर भी शोथ देखा जाता है। इसीसे जिह्वा शुष्क, काली, मैली और उस पर मोटे काँटे उठे हुए दिखाई देते हैं। जिह्वा पर काँटोंका उठना यह वास्तवमें जिह्वांकुरका शोथ होता है। ऐसी स्थितिमें जिह्वा मोटी, कठिन होती है। अर्थात् उस पर भी शोथ होता है।

अन्य रोगोंसे भ्रम—यह रोग स्वतन्त्र हो तो इसका भ्रम सिवाय श्वसनक ज्वरके अन्योंसे कम होता है।

---

१ ज्वरस्य पूर्वं ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुति मूल शोफः। क्रमादसाध्यः खलु कष्ट साध्यः सुखेनसाध्यो मुनिभिः प्रदिष्टाः। यः शोथः श्रुति मूलजः स कठिनः शान्ते त्रिदोष-ज्वरे। माधव।

क्योंकि इसके लक्षण श्वसनक ज्वर (इन्फ्लुइञ्जा) से अधिक मिलते हैं। किन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो इन दोनोंमें पार्थक्य दर्शाती हैं। हम उनको एक सारणी द्वारा व्यक्त करते हैं।

नाम भेदक	फुप्फुसज्वरप्रदाही	श्वसनक ज्वर
शूल	पार्श्वशूल प्रायः ज्वरारम्भमें होता है।	कोई शूल नहीं होता।
रोग प्रभाव	फुप्फुसके निम्न भागमें सर्वप्रथम होता है जो धीरे धीरे आगे बढ़ता है।	स्वरयन्त्र या श्वास प्रणालीमें सर्वप्रथम रोगका प्रभाव होता है फिर आगे बढ़ता है। इसे परीक्षासे देख सकते हैं।
नाड़ी	ज्वरकी अपेक्षा तीव्र होती है।	ज्वरकी अपेक्षा कम होती है।
रक्तके श्वेताणु	नकी काफी वृद्धि होती है।	यह घट जाते हैं।
मूत्र	लवण रहित मूत्राम्ल युक्त होता है।	लवण सहित होता है मूत्राम्ल नहीं बढ़ता।
मर्यादा	१२ दिनकी है। इसके बाद ज्वर उतरता है।	५-६ दिनकी है। पाँचवें, छठे दिन ज्वर उतर जाता है।

	फुफ्फुसप्रदाही ज्वरमें	श्वसनक ज्वर
नेत्र पुतली	नेत्र चमकीले पुतली कुछ फैली हुई होती है	नेत्रमें कोई विशेषता नहीं होती न पुतली पर कोई प्रभाव होता है।
श्लेष्म	पीला मटैला कुछ अरुणता लिये हुए जैसा रक्त मिश्रित पूय।	श्यामता युक्त पीला रक्तवर्ण युक्त जैसे पीसी हुई ईंटका रंग।
जैव	इसके फुफ्फुस प्रदाही होते हैं।	इसके श्वसनकी होते हैं।

उक्त अन्तर रक्त परीक्षा, मूत्र परीक्षासे तो बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। किन्तु उक्त लक्षण भी इनके विभेदको बतानेमें काफी सहायता पहुँचाते हैं।

एक और बात है। श्वसनक तो ५-६ दिनमें ही या तो उतर जाता है या रोगीको मारक स्थितिकी ओर पहुँचा देता है। फुफ्फुस प्रदाह ५-६ दिन तक अपनी प्रबलता आरम्भ करता है। ८-१० दिनके बाद इसमें स्थिति बिगड़ा करती है। इतना समय व्यतीत होते ही इस बातका बोध हो जाता है कि यह कौन सा ज्वर है!

श्वसनकज्वर (इन्फ्लुञ्जा)

यह ज्वर उस तरह बहुत कम देखा जाता है सर्वदा रहनेवाले रोगोंमेंसे यह रोग नहीं है। मेरा अनुभव तो यह

कहलाता है कि शहरोंमें इसके नामसे जो ज्वर बताये जाते हैं वास्तवमें वह ज्वर यह नहीं होता। श्वसनकज्वर जब होता है, बहुतोंमें एकबार ही फैलता है। यह जब फैलता है इसका संचार प्रान्तमें काफी दूर तक हो जाता है। किन्तु मारकके रूपमें तो यह दो चार दिनमें ही जनपदध्वन्सी बन कर सैकड़ों हजारों मीलमें फैल जाता है।

कारण—बहुत अनुसन्धानके बाद इसका भी कीटाणु ज्ञात हुआ है, किन्तु वह आकृतिमें इतना अधिक सूक्ष्म है कि यन्त्रों द्वारा—बड़ी कठिनतासे जाना जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म रूपा होनेके कारण अबतक इसके सम्बन्धमें भ्रम बना हुआ है। बहुतोंका मत है कि यह फीफर (Pfeiffer) नामक कीटाणुओंसे होता है। कुछका मत है कि कटारालिस, स्टाफिलोकोकस, मैक्रोकोकस आदि कीटाणुओंमें से किसी कीटाणुके कारण होता है। प्रथम मतकी पुष्टि अधिक मिलती जा रही है। यह श्वसनक कीटाणु अत्यन्त कोमल स्वभावी असह्य शीत व तापी हैं। किन्तु, जहाँ कहीं इनको अनुकूल वातावरण मिल जाय वहाँ इनका वंश विस्तार इतनी द्रुतगतिसे बढ़ता है कि यह अपनी उपस्थितिसे २४ घंटेमें देश देशान्तरके वातावरणको दूषित बना देते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण हवामें विद्यमान सूक्ष्म पदार्थोंका आधार लेकर हवामय बन जाते हैं और हवा संचारसे पृथ्वी पर चारों ओर फैल जाते हैं। यह

एकबार १८९० में फिर १९१८ में संसार व्यापी होकर जन पद ध्वन्सी देखा गया। उसके ४ वर्ष बाद फिर प्रान्तके कुछ भागमें फैला। इसके लगभग ३-३॥ वर्ष बाद फिर प्रान्तके कुछ शहरों गावोंमें एक साथ दिखाई दिया। उसके बाद अब तक नहीं देखा गया। इसका संचार प्रायः हवा द्वारा होता है इसमें सन्देह नहीं। इसके कीटाणु जब उत्पन्न हो जाते हैं और बढ़ते हैं तो हवामें विद्यमान सूक्ष्म पदार्थोंका आश्रय ग्रहण कर एकबारगो ही चारों ओर संचार करते हैं।

सम्प्राप्ति—यह कीटाणु नासा मार्ग या मुख मार्गसे अन्दर पहुँचते हैं और बहुधा श्वांस प्रणालीमें ही केन्द्रित होते हैं। फुप्फुसमें पहुँच जाय तो प्रायः सांघातिक होते हैं। इनका सञ्चयकाल बहुत न्यून है। वृद्धि इतने वेगसे होती है कि कुछ घण्टोंमें ही रोगका रूप स्फुट हो जाता है। यह नासा विवरसे लेकर फुप्फुस तक श्वासप्रणालीमें हर हर जगह केन्द्रित हो जाते हैं। जहाँ पर केन्द्रित हों वहाँ पर प्रदाह उत्पन्न होता है और देखते-देखते रोगका रूप प्रकट हो जाता है। यदि यह कण्ठमें, स्वरयन्त्रमें केन्द्रित हों तो प्रथम शुष्ककास उठ कर फिर कुछ घण्टों बाद ज्वर हो जाता है। यदि कण्ठमें केन्द्रित न हों, आगे चले जायँ, श्वांस प्रणाली फुप्फुसमें केन्द्रित हों, तो एकाएक ज्वर होकर फिर कास होता है। आरम्भमें फुप्फुस प्रदाहवत् कास

प्रायः बिलकुल शुष्क उठता है और शरीरमें यह कीटाणु जहाँ-जहाँ केन्द्रित होकर प्रदाह उत्पन्न करते हैं उन स्थानोंके विशेष-विशेष लक्षण साथमें उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण—आयुर्वेदमें तो दोषोंके सञ्चयका समय बतलाता है, किन्तु यह रोग सञ्चयके लिये समयकी प्रतीक्षा नहीं करता। एक साथ ही सैकड़ों हजारों व्यक्तियोंमें फूट पड़ता है। इसके आवर्तसे अकस्मात् बहुतोंको विनाशीत बहुतोंको शीत लग कर ज्वर हो जाता है कुछ व्यक्तियोंको प्रतिश्याय होकर ज्वर हो जाता है, बहुतोंको एकाएक खाँसी आरम्भ होकर पुनः ज्वर हो जाता है। ज्वर होते ही शिरः शूल शरीरमें दर्द, तथा श्वांस प्रणालीमें प्रदाह, छातीमें दाह, दर्द और श्वास रुकावट प्रतीत होता है। यह कष्ट किसीके गलेमें किसीके छातीमें, किसीके पीठकी ओर किसीके नासा विवरमें दिखाई देता है। मुँह, गला शुष्क हो जाता है, ज्वरके कारण चेहरा तमतमा उठता है, नेत्रलाल हो जाते हैं, दूसरे दिन जिह्वा मलिन हो जाती है। यदि ज्वर तीव्र हो जाय और वह १०४ से ऊपर जा पहुँचे, कीटाणुमयता और विषमयता बढ़ जाय तो सन्निपातिक स्थिति प्रायः तीसरे दिन दिखाई देने लगती है। तीसरे दिन खाँसी तर हो जाती है और श्लेष्म इष्टका वर्णका आने लगता है। ज्वरकी अपेक्षा नाड़ीकी गति मन्द रहती है। इसके विष प्रभावसे रक्तस्थ श्वेताणुओंका काफी संहार होता है। रोगी दो तीन दिनमें ही

अत्यन्त निर्बल होकर भयंकर स्थितिमें जा पहुँचता है। प्राय: ४–५ दिनमें रोगीकी हालत खराब होने लग जाती है या सुधरने लग जाती है। बस, इसी एक दो दिनमें रोगी या तो संसारके इस ओर होता है या संसारके उस ओर।

इसके संघातिक रूप आगमनमें बहुतोंको फुप्फुस प्रदाह, शीर्ष मण्डलावरणप्रदाह, स्वरयन्त्रप्रदाह, फुप्फुसावरण प्रदाह, श्वांस प्रणालीप्रदाह, हृदपेशीप्रदाह, हृदयावाणप्रदाह, हृदयोद्वेग, हृदगति मन्दता, हृद प्रसार, श्वास, हृदशूल, शिर:शोथ, अन्त:रसश्रावीग्रन्थिशोथ, कर्णफूलग्रन्थिशोथ, गलग्रन्थि शोथ, आदि अनेक कष्टतर रोग हो कर उनके साथमें लक्षण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जिस अंग पर इसका प्रभाव पड़े वही लक्षण साथमें स्फुट हो जाते हैं। इस तरह यह जन पदध्वन्सी व्याधि महामरकका रूप धारण किये अनेक लक्षणोंसे युक्त स्फुट होती है। वास्तवमें यह सब लक्षण इसके अपने नहीं होते। यह तो भिन्न भिन्न अंगोंके प्रभावके उपद्रव हैं जिन्हें लक्षण कहना उचित नहीं जंचता। लक्षण तो उन्हे ही कहना चाहिये जो प्रत्येक रोगीमें एकसे मिलें। एक रोग यदि अपना निश्चित लक्षण न रक्खे तो ऐसी दशामें रोगको पहचानना कठिन बात होती है। लक्षण तो रोगका रूप है जो उसकी सारी जीवन स्थितिको दर्शाता है।

श्वसनक और प्रतिश्वायज्वर—जब यह रोग

सौम्य स्थितिमें फैलता है तो बहुतसे चिकित्सक इसे प्रतिश्याय जनित ज्वर समझ लेते हैं। कुछ आयुर्वेदज्ञ इसे वात श्लेष्मज्वरका नाम देते हैं। कोई कुछ कहते रहें, कुछ नाम धरें, रोगके रूपका जिसके द्वारा यथार्थमें निर्देश होता हो उसे उसी नामसे समझ लेनेमें किसी समझदारको आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

श्वसनक ज्वरके सम्बन्धमें यह देखा जाता है कि जब यह सौम्यरूपमें भी फैलता है तब भी यह जन समूहमें संक्रमित होता है। प्रतिश्याय जनितज्वर या वात श्लेष्मज्वर इस तरह जन समूहमें एकबार ही संक्रमण नहीं करते। न इनके संक्रमणका कोई प्रमाण मिलता है। ऐसी स्थितिमें इन दोनोंको मिलाना मेरे विचारमें युक्ति युक्त नहीं जंचता। क्योंकि संक्रमण शील व्याधियां प्रायः असंक्रमणशील व्याधियोंसे कई बातोंमें विशेषता रखती हैं उन्हें कभी साधारण व्याधियोंके साथ नही मिलाना चाहिये।

अस्थिभंजीज्वर

कारण—यह औपसर्गी रोग है। इसके जैव वाघ मच्छरके शरीरमें रहते हैं और उसके द्वारा मनुष्यके दंशित

१ स्तैमित्यं पर्वणां भेदोऽनिद्रा गौरव मेव च। शिरोग्रह प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्त्तनम्। सन्तापो मध्य वेगश्च वात श्लेष्मज्वरकृतिः। माधव।

होने पर वह मनुष्यके शरीरमें पहुँच कर रोगका कारण बनते हैं। यह रोग सञ्चारी नहीं है, अर्थात् एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यको नहीं लगता। इस रोगके जैव इतने सूक्ष्माकृति हैं कि उनका सही-सही ज्ञान सूक्ष्मदर्शकसे नहीं होता। इसी लिये अबतक यह पता नहीं चला कि यह जैव स्थावर वर्गके हैं या जङ्गम वर्गके। कुछ विद्वानोंका विचार है कि यह जैव स्थावर वर्गके कीटाणु हैं, पर निश्चित मत नहीं है। इसका प्रकोप भी प्रायः वर्षाकालके पश्चात् शरद् ऋतुमें ही ज्यादा देखा जाता है।

रोगकी प्राचीनता—यह रोग पुराने रोगोंमें से है। इसको प्राचीनकालके वैद्योंने यन्त्रापीड़[1] सन्निपात नाम दिया था। इसके पश्चात्के कुछ वैद्य सन्धिक[2] सन्निपातके नामसे पुकारने लगे। जिन वैद्योंने इसका सन्धिक नाम दिया वह इसकी मर्यादाकालको भी जान गये थे। शास्त्रकार सात दिनकी जो मर्यादा[3] सन्धिककी बतलाता है, वही इसकी है। यह ज्वर प्रायः सात दिनमें उतर जाता है। दूसरे इस ज्वरसे मृत्यु भी कम होती है। ग्रन्थकार भी सन्धिकको साध्य कहता है। इससे भिन्न लक्षणोंकी साम्यता इसे निर्भ्रम कर देती है।

---

१ येन मृदु ज्वरवान् यन्त्रेणैवाव पीड्यते गात्रम्। रक्त पित्तं च वमेत् यन्त्रापीड़ः सविज्ञेयः॥ २ देखो पृष्ठ ५९। ३ सन्धिके सप्त रात्राणि।

सम्प्राप्ति—बाघ मच्छर जब किसी मनुष्यको काटता है, यदि उसको दंशनीमें अस्थिभञ्जी ज्वरके जैव हों तो वह काटते समय शरीरमें पहुँच कर रोगका कारण बनते हैं। जैवोंके शरीरमें पहुँचने पर यह शरीरमें कहाँ पर अपना केन्द्र बनाते हैं इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगा है, तथापि देखा गया है कि जैव प्रवेशके तीन दिन पश्चत् तक रक्तमें इसका विष पाया जाता है। इससे भिन्न यह भी देखा जाता है कि रक्तके स्वेताणुकी संख्या और बहुकेन्द्रीय स्वेताणुओंकी संख्या काफी घट जाती है, इससे परिणाम निकाला जाता है कि इन जैवोंका केन्द्र भी रक्तका कोई भाग ही होता है। वहीं यह बढ़ते तथा अपना विष बनाते हैं, और वह विष रक्त द्वारा फैल कर रोगका कारण बनता है। यह रोग एक बार होने पर पुनः हो जाता है, तीन बार तक होता है।

लक्षण—इस रोगका सञ्चयकाल ३ दिनसे ७–८ दिनका ज्ञात होता है। रोगका आक्रमण भी एकाएक होता है। पूर्व रूपके कोई चिह्न नहीं दिखते। एकाएक झुरझुरी लगकर ज्वर हो जाता है, किसीको शरीरमें प्रथम सन्धियोंके आसपास दर्द होता है, फिर उसके मध्य सर्दी लगकर ज्वर चढ़ जाता है। ज्वर एकाएक बढ़ कर १०४–१०५ तक जा पहुँचता है। साथमें सिरके पश्चाद् भाग, पृष्ठ भाग, हाथ, पैर और आँखोंमें पीड़ा होती है, कइयोंको वमन आती है। शरीरमें प्रायः सन्धियोंके आसपास और हड्डियोंमें इतना

अधिक दर्द होता है मानो कोई शरीरकी अस्थियोंको यन्त्रमें डालकर निपीड़न कर रहा हो। रोगीको रात-दिन नींद नहीं आती। यह दुःखकी दशा प्रायः दो तीन दिन रह कर ज्वर कुछ कम हो जाता है और एक दो दिन साधारण कष्ट रहते हैं तथा फिर एकाएक ज्वर और पीड़ा बढ़ जाती है। इस ज्वरमें उत्तापके अनुपातसे नाड़ीकी गति न्यून देखी जाती है, यह इसकी विशेषता है। अर्थात् हृदय पर इस ज्वरका प्रभाव नहीं होता, इसी लिये उसकी गति उत्ताप पढ़ने पर भी अधिक नहीं बढ़ती। दूसरी बार ज्वर चढ़ कर फिर सातवें दिन प्रायः उतर जाता है। कई रोगियोंमें यह ज्वर ७ वें दिन ही जाकर उतरता है। कइयोंको सप्ताहसे पूर्व भी उतरते देखा जाता है।

इस रोगमें यही विशेषता है कि ज्वरके साथ सन्धियोंके आसपास जहाँ पेशी बन्धन आकर लगते हैं वहाँ अधिक पीड़ा होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि सन्धिमें दर्द है। इस तरह तो सारे शरीरकी हड्डियोंमें पीड़ा होती है किन्तु पृष्ठ वंश, सिरका पश्चात् भाग, कनपटी, नेत्र चालक पेशी और सन्धि बन्धन तथा शाखाओंमें पीड़ा विशेष होती है। रोगी पीड़ासे बहुत व्याकुल होता है।

इस ज्वरके दूसरे तीसरे दिन किसी-किसी रोगीके शरीर पर रक्त बिन्दु भी दिखाई देते हैं, जो एक दो दिनमें मिट जाते हैं। किसी-किसी को चौथे पाँचवें दिन रक्तबिन्दु

दिखते हैं, जो ज्वर उतरनेके साथ जाते रहते हैं। इस ज्वरके एक बार होने पर रोगी अत्यन्त निर्बल हो जाता है। यदि कहीं महीना दो महीनाके पश्चात् इस रोगका फिर आक्रमण हो जाय तो रोगी और भी निर्बल हो जाता है। यह रोग तीन बार तक आक्रमण करते देखा गया है। इसके बाद रोगी सक्षम हो जाता है। यह रोग बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि शहरोंमें अधिक देखा जाता है। पञ्जाबमें नहींके बराबर है।

पुनरावर्तीज्वर

यह एक प्रकारका कुछ दिन छोड़ कर बारम्बार आने वाला ज्वर है। इसके दो तीन और चार आवर्त देखे जाते हैं इसीलिये इसे पुनरावर्तीज्वर कहते हैं।

कारण—यह एक प्रकारका जीवाणुजन्य रोग है। यह जीवाणु अबतक ८ प्रकारके मिल चुके हैं और इन आठों ही प्रकारके जीवाणुओंसे उक्त ज्वर होता है, किन्तु उनके लक्षणोंमें अवश्य थोड़ा बहुत अन्तर होता है। इन आठोंमेंसे दो प्रकारके जीवाणु भारतमें, दो प्रकारके अफ्रिकामें और दो प्रकारके अमेरिकामें, एक ईरानमें और एक स्पेनमें पाया जाता है। यह जीवाणु भारतवर्षमें यूकाओं द्वारा मनुष्य शरीरमें प्रवेश करता है। इस जीवाणुके वाहक यहाँ तो यूका है; अन्य देशोंमें इन जीवाणुओंके वाहक

किलनी है। वास्तवमें चार प्रकारके जीवाणुओंका वहन जूं करती है, चार प्रकारके जीवाणुओंका किलनी करती है। इन जीवाणुओंकी आकृति कर्षिण्याकार होती है। रोग जूं द्वारा होता है इसलिये प्रायः शीतकालके आरम्भमें जब जूं की वृद्धि अधिक होती है—फैलता है। पहाड़ोंमें तथा नीच, गरीब व मैले कुचैले रहनेवाले आदमियोंमें यह रोग अधिक देखा जाता है।

सम्प्राप्ति—इन जीवाणुओंकी जूंके पेटमें वृद्धि होती है और अधिकत्तर जीवाणु उस जूंके मल त्यागसे बाहर आते हैं या शरीरको खुजलाते समय जूँके पिस कर मर जाने पर उसके पेटसे बाहर निकल पड़ते हैं। इस तरह त्वचामें लग कर—खुजलानेसे खरोचन पड़ जानेवाले मार्गसे या—जूंदंशके मार्गसे शरीरके भीतर घुस कर रक्तमें जा पहुँचते हैं और रक्ताणुओंको अपना केन्द्र बनाते हैं। यह प्रायः ज्वरावस्थामें रक्ताणुओंसे लिपटे हुए देखे जाते हैं किन्तु ज्वर रहित स्थितिमें यह प्लीहामें जा पहुँचते हैं इसीसे कुछ २ प्लीहा वृद्धि भी देखी जाती है, किसीका यकृत भी बढ़ जाता है।

लक्षण—इस ज्वरमें लक्षणोंकी कोई विशेषता नहीं दिखती। एक ही विशेषता इसमें पाई जाती है, वह है ज्वरका पुनः उतरकर कुछ दिन बाद चढ़ना। प्रायः ज्वर जब हो जाय तो प्रथमवार छः सात दिन सतत रूपका बना रहता

है फिर एकाएक पसीना आकर उतर जाता है। कइयोंको ज्वर मोक्षकालमें अतिसार भी आते हैं। ज्वर छः सात दिन बराबर उतरा रहता है, ऐसे समय रोगी स्वस्थ हुआं-सा अपने काम-काजमें लग जाता है। फिर एकाएक वैसे ही लक्षणोंसे युक्त ज्वर हो जाता है, किन्तु इस बार पूर्वापेक्षा ज्वर और उसके लक्षण निर्बल होते हैं। इसबार ज्वर तीन चार दिन या पांच दिन रह कर उसी तरह फिर उतर जाता है और १२-१५ दिनका अन्तर देकर किसी किसीको फिर हो जाता है, तीसरी बार दो तीन दिन रहकर उतर जाता है। इस तरह ज्वर-काल कम होता हुआ तीन चार आवर्तन तक शरीरमें क्षमता आ जाती है और फिर यह ज्वर चला जाता है। पुनः पुनः आवर्तन होनेके कारण ही चिकित्सकोंने इसका नाम पुनरावर्ती या हेर फेरका बुखार रक्खा है। इस रोगका सञ्चयकाल २ से. १०–१२ दिनका है इसमें जब एकाएक ज्वर होता है तो किसी-किसीको १०५–६ के अंश तक या इससे अधिक तक बढ़ते देखा जाता है। ज्वर प्रायः कुछ न कुछ सर्दी लग कर होता है और उसके साथ ही शिरः शूल, सर्वांगमें पीड़ा विशेष कर पृष्ठ भागमें होती है। ज्वरके हो जाने पर उत्क्लेद हो कर वमन आती है। वमनमें अक्सर जो पदार्थ निकलता है, उसका वर्ण किञ्चित् पीला श्याम काफी या कहवा वर्णका होता है। तृषा वेगवान् होती है क्षुधामन्द पड़ जाती है, जिह्वा पर स्वेत मैल आ जाती है। प्रायः

रोगीको विष्टम्भता बनी रहती है। मूत्रकी मात्रा कम हो जाती है और उसमें अण्डसित, पित्त आदि पदार्थ पाये जाते हैं। किसी-किसी रोगीकी त्वचा पर तीन चार दिनके बाद रक्त-विन्दु दिखाई देते हैं। कभी-कभी किसी रोगीके नकसीर फूट पड़ती है। किसी-किसीको कामला भी हो जाता है। उक्त चिन्ह सब आरम्भमें होते हैं। ज्वर छः सात दिन तक लगातार बना रहता है, प्रभात और सायंकालके ज्वरमें एक आध अंशका ही अन्तर आता है। जब ज्वर मोक्षकाल पर होता है तो प्रायः प्रस्वेद आकर ज्वर उतर जाता है और एक सप्ताहके लगभग फिर उक्त लक्षणोंसे संयुक्त ज्वर हो जाता है। यदि ज्वरका इस प्रकार पुनरावर्तन दिखाई दे और इसकी मर्यादा प्रतिवार दिखाई दे तो इसे पुनरावर्ती ज्वर जानना चाहिये। इस ज्वरसे सतत, मन्थर, अस्थिभञ्जी, टाइफस आदि कई ज्वरोंके लक्षणोंसे समता पाई जाती है, इसी लिये इस रोगके होनेपर जरा सावधानीसे निदान करना चाहिये।

आखुविषज्वर

कारण—यह ज्वर भी एक प्रकारके कर्षिण्याकार जीवाणुओं द्वारा होता है। इन जीवाणुओंके वाहन चूहे मालूम हुए हैं। चूहोंमें या अन्य तीक्ष्ण अग्रदन्ती प्राणियोंके भीतर यह जीवाणु पाये जाते हैं। यह चूहा जब मनुष्यको काट खाता है तब इस रोगके जीवाणुओंका प्रवेश उसके

दंशमार्गसे होता है। सब चूहे इन जीवाणुओंसे आक्रान्त नहीं होते। कभी कहीं कोई चूहा इससे आक्रान्त मिलता है। इसीलिये यह ज्वर भी बहुत कम देखा जाता है।

संप्राप्ति—चूहा जिस स्थान पर काटता है, उस स्थानकी लसीका-वाहनियोंमें इसके जीवाणु घुसकर विवर्द्धित होते हैं। इस रोगका संचयकाल ७ दिनसे लेकर १॥ मास तकका देखा जाता है। इतने समयमें जीवाणु परिवर्द्धित होकर जब बढ़ते हैं तो लसीकाग्रन्थि, प्लीहा व रक्तमें पहुँच जाते हैं। अधिक प्रकोप स्थानिक होता है। जीवाणु-वृद्धिसे साथ ही रक्तके श्वेताणुओंकी भी काफी वृद्धि होती है।

लक्षण—जहाँ चूहेने काटा हो वह क्षत स्थान दो-चार दिनमें ठीक हो जाता है। फिर कहीं उसी स्थान पर दस-पन्द्रह दिनके बाद शोथ या व्रण उत्पन्न हो और चिकित्सकको पूर्वमूषक दंश कारण न बताया जाय तो वह उस व्रणशोथका कोई अन्य कारण समझ लेता है। जब व्रण उत्पन्न होता है तो शोथ उसके चारों ओर फैलता जाता है। जहाँ व्रणशोथ उत्पन्न होता है वहाँ आरम्भसे ही दाह व दर्द बहुत होता है। कइयोंको शोथके पश्चात् वहाँ स्फोटी व्रण उत्पन्न हो जाते हैं, इनका वर्ण श्यामता लिये लाल होता है। इन व्रणोंके या स्फोटके होनेपर इसके साथ ही ज्वर हो जाता है। ज्वर प्रायः साधारण शीत लगकर

चढ़ता है। इसके साथ ही वमनेच्छा होती है, कइयोंको वमन भी आती है। समस्त शरीरमें, शिरमें व सन्धियोंमें दर्द होता है, कइयोंको पतले रेचन भी आते हैं। ज्वर धीरे-धीरे बढ़ता है, किन्तु १०३-४ से अधिक नहीं जाता। प्रायः छः-सात दिन लगातार ज्वर रहकर उतर जाता है। पहले सप्ताहके मध्य कइयोंको समस्त शरीर पर रक्त-वर्णके स्फोटी पिटिकायें भी निकलती हैं। किसी किसीको ददर्द निकलते हैं। ज्वर जब उतर जाता है, तो रोगी ५–६ दिन तक राजी रहता है फिर उसे एकाएक ज्वर हो जाता है, तथा उसके साथ अन्य पूर्ववत् लक्षण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। इस तरह इस ज्वरके आवर्तन होने प्रारम्भ हो जाते हैं। यह ज्वर पुनरावर्ती ज्वरवत् क्रमसे आता और जाता रहता है। पुनरावर्ती ज्वर तो दो तीन आवर्तके पश्चात् शान्त हो जाता है, यह महीनों क्यां वर्षों तक इसी तरह आता और जाता रहता है। इसको उससे विभेद करनेके लिये आवश्यक है कि इस रोगके आरम्भमें जो शोथ व व्रण देखे जायँ उनका ख्याल रक्खें वह इसका पार्थक्य सिद्ध कर देते हैं। दूसरे चार बारसे अधिक आवर्त भी इसको पुनरावर्तीसे भिन्न कर देते है। कभा-कभी इसे कोई चिकित्सक व्रणको देख कर विसर्प समझ लेता है। विसर्पमें इस तरह ज्वरका पुनरावर्तन नहीं होता। यह रोग सङ्घाती नहीं है, किन्तु रहता वर्षों है। यदि रोगी

अधिक निर्बल हो कर वृक्कशोथ, यकृतवृद्धि, प्लीहावृद्धि आदिसे घिर जाय तो मृत्यु होनेका भय होता है, वरना इससे मृत्यु कम ही होती है। वाग्भटजीने आपु विषज्वरके बहुत ठीक लक्षण किये हैं।

यथा—जिस स्थान पर चूहा काटे वहाँ शोथ ग्रन्थि और कोथ उत्पन्न होता है, शरीर पर मण्डलाकार चकत्ते या उदर्द निकलते हैं। शीत देकर ज्वर होता है, रोम हर्ष अरुचि, भ्रम, समस्त शरीरमें दर्द, सन्धि दर्द होता है, किसी-किसीको वधिरता, मूर्छा भी होती है। वह कहते हैं यह रोग दीर्घ काल तक चलता है। अर्थात् ज्वरका आवर्तन होता रहता है।

चित्रालीज्वर

यह ज्वर सिन्धके कुछ भागमें तथा काबुलकी सरहदके आसपास जिला मियाँवाली पेशावर, हरीपुर-हजारा जिलेके पश्चिमोत्तर भागमें अधिक देखा जाता है। चित्राल, चिलास आदिमें अधिक होनेके कारण इसका नाम चित्राली ज्वर रखा गया। भारतमें बहुत कम पाया जाता है। दूसरे यह तीन दिनका ज्वर है। सांघातिक रूपका भी नहीं है। तीन दिनमें

---

१ अन्ययः श्वयथु कोथो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः। शीत ज्वरोऽतिरुक् सादो वेपथुः पर्व भेदनम्॥ रोमहर्षः स्रुति मूर्छा दीर्घकालानु बन्धनम्। वाग्भट।

बिना चिकित्साके स्वयम् ही चला जानेवाला ज्वर है। इसी- लिये इसकी चिन्ता किसीको नहीं सताती। तथापि रोगका जानना चिकित्सकका काम है।

कारण व सम्प्राप्ति—यह ज्वर भी जैवी कारणसे उत्पन्न होता है, किन्तु यह जैव किस वर्गके हैं? अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण सही तौर पर जाने नहीं जा सके। इन जीवोंका वाहन एक प्रकारकी मक्खी पाई गई है। इस मक्खीके काटनेसे इस रोगके जैव मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करते हैं, इस बातका ठीक ठीक बोध हो गया है। यह मक्खी उन प्रान्तोंमें अधिक होती है। जिन व्यक्तियोंको यह मक्खी काट लेती है काटते समय इसके जैव शरीरमें उतर आते हैं और वह रक्तमें पहुँच कर वहाँ पर बढ़ते हैं। इनका संचयकाल २ से ५ दिन होता है। इस स्थितिमें इसके कोई लक्षण नहीं दिखाई देते।

लक्षण—फिर एकाएक शीत लग कर ज्वर हो जाता है। कमर दर्द, सिरदर्द, सर्वांग पीड़ा, व्याकुलता ये लक्षण साथमें होते हैं। चेहरा व आंखें लाल होती हैं और चेहरा कुछ शोथयुक्त भारी प्रतीत होता है। ज्वर एकाएक १०३-१०४ कभी-कभी १०५ फा० अंश तक जा पहुँचता है। जिह्वा मलिन हो जाती है। प्रायः अस्थिभंजीके लक्षणोंसे इसका भ्रम होता है। दूसरे दिन ज्वर कुछ कम होता है, तीसरे दिन

और घट कर चौथे दिन बिलकुल उतर जाता है। कइयोंको चौथे दिन एकाएक पसीना आकर ज्वर उतरता है। रोगीको फिर कोई कष्ट नहीं रहता। इस ज्वरकी वहां कोई चिकित्सा नहीं करता। आयुर्वेदमें ऐसे किसी ज्वरका उल्लेख नहीं आया।

पीतज्वर

यह ज्वर प्राचीन ज्वरोंमेंसे है और आयुर्वेदमें इसे हारिद्रक सन्निपातके नामसे अभिहित किया गया है। किन्तु इस समय यह ज्वर भारतमें नहीं दिखता। अफ्रिका, अमेरिका, मेक्सिको आदि देशोंमें पाया जाता है।

कारण—इस ज्वरका कारण भी एक प्रकारका परानुवीक्ष्यीय जैव है, जो एक विशेष बाघमच्छरों द्वारा काटनेसे मनुष्यके शरीरमें पहुँचता है। और २ से १० दिनके भीतर अपनी शक्ति संचय कर ज्वर उत्पन्न करता है

लक्षण—अकस्मात् शीत लगकर ज्वर हो जाता है, साथमें सिर दर्द, व्याकुलता, वमन आदिके चिह्न प्रकट होते हैं। ज्वरके तीसरे दिन शरीर एकाएक पीला हो जाता है मानो रोगीको कामला हो गया हो। ज्वर चौथे दिन कुछ घटता है और एक-आध दिन न्यून रहकर फिर बढ़ जाता है। ज्वर होनेपर इसमें जो वमन होती है उसमें प्रायः

१ देखो पृष्ठ ५६।

श्यामतायुक्त अशुद्ध रक्तका मिश्रण पाया जाता है। प्रायः भीतरके भागोंमें रक्तस्रावके चिह्न देखे जाते हैं। रोगी प्रायः मर जाते हैं। मृत्यु हृदयावसाद, मूत्रावरोध आदिसे होती है। ज्वर होने पर इसमें रोगीके मूत्रमें अण्डसित पाया जाता है।

अतिनिद्राज्वर

यह ज्वर भी हमारे देशमें नहीं होता, अफ्रिकामें होता है। आयुर्वेदमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह भी औपसर्गिक रोग है।

कारण—इसके जीवाणु एक प्रकारकी मक्खीके भीतर रहते हैं, उस मक्खीके काटनेसे ही वह जीवाणु मनुष्यके शरीरमें पहुँचते हैं और शरीरमें ही वह अपना जीवन-चक्र पूरा करते हैं।

सम्प्राप्ति—इसका संचयकाल ३-१० दिनका है। इसके जैवोंका केन्द्रस्थल रक्त तथा मस्तिष्कका कुछ भाग व सुषुम्नाकाण्डका मध्यभाग होता है। इनके मस्तिष्कमें पहुँचने पर मस्तिष्कावरणमें प्रदाह भी होता है। यह जैव एक प्रकारका विष भी उत्पन्न करते हैं, जिसका प्रभाव मस्तिष्कके मध्यत्रिपुटीग्रन्थीके ऊपर तथा उसके आस-पास अधिक होता है।

लक्षण—रोग मन्दगतिसे बढ़ता है। इसका प्राग्रूप देखा जाता है। प्रथम रोगी सुस्त बीमार-सा अपनेको अनुभव करता है। फिर शरीर पर तथा चेहरे पर कुछ शोथके चिह्न दिखाई देते हैं। विशेषरूपसे नेत्रके पलक व चेहरे पर अधिक शोथके चिह्न स्पष्ट होते हैं। प्रायः सायंकालके समय ज्वर होने लगता है। रोगीकी सुस्ती दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। आरम्भमें ज्वर प्रायः सायंकालको होकर प्रभातको उतर जाया करता है, फिर वेग बढ़ जाता है। कभी-कभी कुछ दिन बीचमें ज्वर नहीं भी होता, फिर एकाएक वही क्रम आरम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे गलेकी कक्षा व वंक्षणकी लसिकाग्रन्थियां कुछ फूली हुई प्रतीत होती हैं। सुस्ती इतनी बढ़ जाती है कि रोगीका जी सोनेको ही करता रहता है, प्रायः अर्धनिद्रा रहने लगती है। रोगी धीरे-धीरे दुर्बल होता चला जाता है, रक्ताल्पता बढ़ती चली जाती है। त्वचाके नीचे स्थान-स्थान पर रक्तावरोध होता है, इससे जगह-जगह नीले धब्बेसे बन जाते हैं, रक्तचाप घट जाता है। रोगी बाहर जिह्वा निकाले तो वह काँपती है तथा शब्द देरमें रुक-रुक कर अस्पष्ट निकलता है। रोगीको चलनेके लिये कहा जाय तो पैर सीधे सही स्थान पर नहीं रख सकता। निद्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि रोगी उठता ही नहीं, इस रोगसे प्रायः रोगी मर जाते हैं।

सन्धिवातज्वर

आमवातसे सन्धिवातज्वर भिन्न रोग है। इसको आयुर्वेदज्ञोंने जाना था। वह कहते हैं कि ज्वरके मध्यमें या ज्वरके अंतमें दर्दके साथ सन्धियां रुक जायँ, ज्वर तीव्र हो उसे सन्धिवात ज्वर कहते हैं।

कारण—अनुसन्धानसे इस रोगका कारण एक विशेष प्रकारका अत्यन्त सूक्ष्म जैव ज्ञात हुआ है। जैव इतने सूक्ष्म हैं कि उसका वर्ग और जातिका ठीक ठीक पता नहीं लग सका। कुछ विद्वानोंकी राय है कि यह पूयजनक कीटाणुओंमेंके लघु मालाकार कीटाणुओंसे उत्पन्न होता है।

सम्प्राप्ति—इस रोगके कीटाणु शरीरमें कैसे पहुँचते हैं इसका कोई पता नहीं लगता। बहुतोंकी राय है कि इसके कीटाणु सदा शरीरमें विद्यमान रहते हैं। गिलायु ग्रन्थि शोथ, इन्हीं कीटाणुओंके कारण बना रहता है। यह कीटाणु शरीरमें निवास करता हुआ एक प्रकारका सदा विष उत्पन्न करता रहता है, जिसका प्रभाव अधिक सर्दी लगने, भींगने, शीत वीर्य वस्तुओंके अधिक सेवन करने, हवा लगने आदिसे शरीरके रक्तमें एकाएक शैत्य प्रधान प्रभाव होता है, उससे उस विषकी विद्यमानतामें

---

१ ज्वरमध्ये ज्वरांते वा सन्धीनां ग्रहणं सरुक्। तीव्र ज्वरोपयुक्तस्य सन्धिवात ज्वरं वदेत्॥ माधव।

रक्तस्थ धातुएँ विशेष प्रभावित हो जाती हैं, उस समय शरीरके रासायनिक परिवर्तनमें जो बाधा आती है, उसीका परिणाम सन्धिवात ज्वर होता है।

यह रोग प्रायः नवयुवकोंको ही अधिक होता है। ४० वर्षसे अधिक आयुवालोंमें क्वचित् ही देखा जाता है। बच्चोंको भी नहीं होता और इसका आक्रमण एकाएक होता है।

लक्षण—कुछ व्यक्तियोंमें रोगसे कुछ काल पूर्व गिलायु ग्रन्थि शोथ और उसमें पूयका उपद्रव पाया जाता है। कुछमें अकस्मात शीत लग कर ज्वर होता है और कुछके सन्धियोंमें दर्द अकड़ाव उसी दिन या दूसरे तीसरे दिन होता है। कइयोंमें प्रथम सन्धिमें एकाएक शोथ और दर्द होकर फिर ज्वर हो जाता है। ज्वर वेगसे बढ़ कर १०४-१०५ तक चला जाता है कभी-कभी इससे ऊपर भी। ज्वरके साथ अरुचि, तृषा, विष्टब्धता, नाड़ी द्रुतगति युक्त जिह्वा मलिन देखी जाती है। मूत्र न्यून, गाढ़ा विशेष अम्लता-युक्त होता है। रोगीके प्रस्वेदसे भी खट्टी गन्ध आती है। प्रायः ज्वर कम होनेसे पूर्व पसीना आता है। मूत्र परीक्षासे मूत्रमें मूत्राम्लकी काफी उपस्थिति पाई जाती है। कुछ सन्धियोंमें जहाँ शोथ हो वहाँ भयंकर वेदना होती है। आज यदि कुछ संन्धियोंमें शोथ वेदना हो रही है तो दो तीन दिनमें वहाँ शोथ व वेदना घट कर दूसरी अन्य सन्धियोंमें चली जाती है। जिन सन्धियोंमें शोथ हो रहा

है वह स्थान लाल तप्त होता है; रोगी हाथ नहीं लगाने देता। आमवातमें रोगीके सन्धियोंमें पूय पड़ जाता है। किन्तु इस रोगमें यह विशेषता है कि सन्धियोंमें जहाँ शोथ होता है पूय नहीं पड़ता। वास्तवमें यह सन्धिके भीतर आवरकका शोथ नहीं है, प्रत्युत यह शोथ व पीड़ा बन्धक तन्तुओंके सन्धि बन्धनोंमें होती है, जहाँ सन्धिके बन्धनोंका उभार बनता है। इस सन्धिवातज्वरकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस रोगके आरम्भ होते ही इसके विषका प्रभाव हृदय पर अवश्य होता है। इससे हृदय प्रसर जाता है, उसका शब्दबोध स्थानान्तरसे होने लगता है और शब्दमें अन्तर आ जाता है। प्रायः इस रोगके प्रभावसे हृदयकी मांसपेशी, आवरक और उसके कपाट आदि सबों पर इसका प्रभाव होता है। प्रायः विकार अधिक कपाटोंके भीतरी आवरक तथा उनके किनारों पर होता है और उनमें काठिन्य उत्पन्न होने लगता है, वह विकृत-तन्तु-रूप बनने लग जाते हैं। इसीसे कपाट संकुचित होकर कुछ कठोर हो जाते हैं और कपाट पूरी तरह बन्द नहीं होते। रक्तचाप भी कुछ कम हो जाता है। सन्धिवातका भ्रम होते ही हृदय परीक्षक यन्त्रसे हृदयकी परीक्षा करनी चाहिये, इससे रोग विनिश्चयमें बड़ी सहायता मिलती है। यह रोग एक बार हो जाय तो पुनः होनेका भय बना रहता है। किन्तु, धीरे २ इसकी स्थिति बदलती रहती है। इस रोगमें

	सन्धिवातज्वर	आमवात
	होता है और साथमें ज्वरके उपद्रव भी होते हैं।	बहुत मन्द देखा जाता है।
शोथ ग्रन्थि	बारंबार एकही सन्धिमें रोगका आक्रमण हो तो ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाती हैं और गति जाती रहती है सन्धियां इसमें नहीं जुडतीं।	एक बार दो बारके आक्रमणसे ही सन्धियोंमें जहां दर्द ठहर गया हो काफी शोथ बना रहता और वह कठिनतासे जाता है सन्धि जुड़ जाती हैं।
आक्रमण	प्रायः मोटी व बड़ी-बड़ी सन्धियोंमें अधिक होता है और एक सन्धिको छोड़कर रोग अन्य सन्धियोंमें चला जाता है।	रोग जिस सन्धिको पकड़ता है प्रायः उसमें बना रहता है। छोटी बड़ी सभी सन्धियाँ इसमें घिरती हैं।
स्थिति	रोग जल्दी चला जाता है और फिर आवर्त्त होनेकी प्रवृत्ति बनी रहती है किन्तु जब होता है तो प्रबलताके साथ होता है।	रोग जल्दी नहीं जाता। बहुत काल लेकर ठीक होता है। फिर भी कुछ न कुछ कष्ट कभी-कभी बना ही रहता है।

वस्त्र तथा गन्दे स्थानोंमें अधिक पाया जाता है। हमारे देशमें प्रसूताकालकी स्थितिको एक घृणास्पद बात समझकर प्रसूताके लिये घरमें बुरासे बुरा स्थान चुनते हैं। जहाँ कभी सफाई तक नहीं होती, अंधेरा कमरा होता है। फिर प्रसूताके लिये वस्त्र भी गन्दे खराब दिये जाते हैं—क्योंकि वह वस्त्र फिर घरमें उपयोगके योग्य नहीं समझे जाते। प्रायः वह वस्त्र दाईको दे दिये जाते हैं। इसीलिये गन्दे वस्त्र प्रसूता-कालमें दिये जाते है। प्रसूता होनेके समय दाइयाँ भी अशुद्ध हाथोंसे प्रायः प्रसवका काम करती हैं। इन्हीं कारणोंसे पूयजनक कीटाणुओंकी अनेक जातियाँ उन गन्दे स्थानोंमें सदा वास करती रहती हैं और अपने शिकारकी सदा तलाश करती रहती हैं। स्त्रीके प्रसूता होनेके कारण एक तो उसे रक्तस्राव होता है, प्रसवसे तथा रक्तस्रावसे उस समय उसके शरीरमें भारी परिवर्त्तन होते हैं, निर्बलता बढ़ी हुई होती है, क्षमता शक्तिकी कमी हो जाती है। ऐसे अवसरको पाकर उक्त रोगके कीटाणु प्रसव मार्गमें कहीं भी गन्दे हाथ, गन्दे वस्त्र आदि द्वारा प्रवेश कर जायँ बस फिर क्या, उन्हें अपनी वंश वृद्धि करनेका बड़ा भारी सुयोग हाथ लग जाता है और वह बड़ी तेजीसे बढ़कर प्रसूताज्वरका कारण बनते हैं। यह रोग भारतमें बहुत व्यापक है। ४० प्रतिशतसे अधिक स्त्रियाँ इसी ज्वरसे मरती हैं।

सम्प्राप्ति—इस रोगके कीटाणु जब प्रसव मार्गसे

कहीं भीतर पहुँच जायँ तो वह वहीं अपना केन्द्र स्थापित कर अपनी वंशवृद्धि करने लग जाते हैं। साथमें यह एक प्रकारका विष भी उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण ही ज्वरादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन रोगका संचयकाल ६-२४ घंटेका है। यह कीटाणु जहाँ पर केन्द्रित हो जायँ वहाँ पर प्रथम शोथ उत्पन्न हो जाता है। इनके द्वारा अबतक शरीरके निम्न स्थानोंमें शोथ होते देखा गया है—गर्भाशय शोथ, डिम्बशोथ, अस्थिशोथ, मज्जाशोथ, सन्धिशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, लसीकावहनीशोथ, गला-पुरस्सनिकाशोथ, वृक्काग्रशोथ, विसर्प, चर्म और उपचर्म शोथादि।

लक्षण—प्रसव वेदनासे भी किसी-किसीको कुछ ज्वर हो जाता है किन्तु इस ज्वरका वेग अत्यन्त मन्द होता है जो दो चार दिनमें ही जाता रहता है। परन्तु उक्त कीटाणु किसी तरह प्रसवकालमें पहुँच जायँ तो प्रसव होनेके प्रायः तीन चार दिनके भीतर एकाएक शीत लग कर तीव्र ज्वर हो जाता है। इन कीटाणुओंके विष प्रभावसे एक तो पाचक रसस्रावी ग्रन्थियोंके रस उसी तरह बहुत घट जाते हैं। दूसरी ओर परिवारवाले उस रोगणीको विशेष गरिष्ट-घृताक्त पदार्थ खानेके लिये देते हैं जिससे उसको अपच विकार हो जाता है इससे रोगवृद्धिमें सहायता मिलती है। शीत लग कर एकाएक ज्वर हो जाता है। ज्वरकी मात्रा १०३-१०४ तक पहुँच जाती है, कइयोंको अतिसार भी लग

जाते हैं, तृषा वेगवान् होती है, शोथ कई स्थानोंमें होता है। दर्द भी प्रायः उन्हीं शोथ स्थानोंमें होने लगता है, शोथ प्रायः अन्तर भागोंमें ऐसे स्थानों पर होता है जिन्हें लक्षणोंसे ही जाना जा सकता है। ज्वर १०५ हो जाय तो मस्तिष्कावरण प्रदाह हो जाता है इसीसे रोगी मूर्छावस्था की ओर चला जाता है। साथमें प्रलाप करता है, फुफ्फुसप्रदाह हो जाता है, सन्निपातिक उपद्रव बढ़ते चले जाते हैं। यदि विष प्रभाव वेगवान् हो तो प्रायः रोगिणी ५-७ दिनमें संसारसे चली जाती है। यदि विष प्रभाव निर्बल हो और रोगिणी सक्षम होती चली जाय तो वह बच जाती है। किन्तु बच जाने पर भी अनेक अप्रधान गौण रोग जो उस समय उत्पन्न हो जाते हैं वह काफी समय तक गर्भिणीको सताते रहते हैं।

विसर्प

इस रोगका वर्णन आयुर्वेदमें विस्तारसे मिलता है। और ज्ञात होता है कि यह रोग पूर्वकालमें कई रूपका देखा जाता था, इसीलिये इसके ७ भेद माने गये हैं। किन्तु इस रोगका वास्तविक कारण क्या है? साधनके अभावमें जाना नहीं जा सका। पूर्वकालमें यह रोग अधिक होता था, इसका कारण यही था कि उस समयके चिकित्सक क्षत व विदीर्ण व्रणोंकी रक्षाके स्वच्छ साधनोंकी ओर बहुत कम ध्यान देते थे। क्षत स्थानमें शरीरसे बाहर मिट्टी,

धूल मलिन वस्त्रों द्वारा भी कोई उस व्रणको विकृत करनेवाला सजीव कारण प्रवेश कर सकता है ? इसका किसीको गुमान भी न था। जबसे जैवी विद्याका आविष्कार हुआ, अनेक रोग जैवी कारणोंसे जाने गये, तो उन्हीं दिनों इस बातका भी पता चला कि पूयजनक कीटाणुओंकी कई जातियां ऐसी हैं जो पूय उत्पन्न करती हैं।

कारण—उन भिन्न-भिन्न कीटाणुओंसे भिन्न-भिन्न प्रकारका शोथ व पूय उत्पन्न होता है। उन पूय उत्पन्न करनेवाले कीटाणुओंमें से तान प्रकारके ऐसे विशेष कीटाणु पाये गये हैं जिनसे विसर्प रोग होता है। किन्तु उन तीनोंके द्वारा उत्पन्न विसपका रूप एक दूसरेसे भिन्न होता है। कभी-कभो दो भिन्न जातिके कीटाणु एक ही स्थान पर एकत्र होकर शोथ पूय उत्पन्न कर त्वक् मांस लगाने लगते हैं, वह विकृति बहुत बढ़ी हुई होती है। इस तरहसे इस रोगके कई रूपान्तर देखे जाते हैं। आजकल यह रोग व्रणोंको शुद्ध रखनेके कारण बहुत घट गया है, तथापि जो व्यक्ति साधारण क्षत व चर्म, उपचर्मके छिल जानेसे बनेक्षतकी परवाह नहीं करते, गन्दे रहते हैं उनमें अब भी किसी-किसीको यह रोग होता है।

सम्प्राप्ति—विसर्प एक प्रकारका शोथ है, जिससे त्वचा लाल हो जाती है। जहाँ त्वचा लाल हो रही हो उतना स्थान शरीरकी अन्य त्वचासे भिन्न उभरा हुआ शोथ युक्त दिखाई देता है और उस शोथ स्थानमें दाह होता है।

यह शोथ शरीरके हर एक स्थान पर हो सकता है, जहाँ किसी प्रकारका छोटा-मोटा क्षत रगड़ लग चुकी हो। कुछ विशेषज्ञोंकी यह भी राय है कि बिना क्षतके भी इस रोगके कीटाणु त्वचामें घुस कर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसा प्रमाण बहुत ही न्यून मिलता है। प्रायः यह देखा जाता है है कि किसी स्थानमें साधारण क्षत या रगड़ लगी और मिट गई दो चार दिनके पश्चात् फिर वहाँ पर एकाएक शोथ फैलने लगे तो ऐसी दशामें चिकित्सकके पूँछने पर रोगी पहिले क्षतका इससे सम्बन्ध न जाननेके कारण उसे भूल जाते हैं। यह रोग होता प्रायः क्षतके बाद ही है। इसलिये चिकित्सकको चाहिये कि क्षत स्थानकी ओर सर्वप्रथम ध्यान दौड़ावे। जब कोई रगड़ लगे, काँटा, या सूई भी चुभ जाय तो इस रोगके कीटाणुओंको उस कांटेके मार्गसे घुसनेका पूर्ण अवसर मिल जाता है। कीटाणुओंके प्रवेशसे रोगारम्भ काल तक लगभग २४ घंटेसे लेकर २-३ दिन तकका संचय काल होता है। कीटाणु प्रायः उस क्षत स्थानके चर्म और मांशपेशियोंमें वृद्धि करते हुए एक प्रकारका तीव्र विष उत्पन्न करते हैं, इससे जहाँ तक कीटाणुमयता बढ़ती है वहां तक वह शोथ, दाह अरुणता बढ़ती चली जाती है।

प्रायः कीटाणु सीमित स्थान तक ही रहते हैं। वहीं पर शरीर रक्षक दल उन्हें घेरे रहता है। यदि कहीं यह रक्तमें पहुँच जाय तो कीटाणमयता उत्पन्न हो जाती है

ऐसी स्थितिमें रोगी नहीं बचता। हम ऊपर बतला चुके हैं कि भिन्न-भिन्न जातिके कीटाणु शरीरमें भिन्न-भिन्न प्रकारका शोथ व पूय उत्पन्न करते हैं। पूयका वर्ण भी नीला, पीला, हरा तथा कई प्रकारकी गन्धयुक्त देखा जाता है। इनके जाति भेदसे रोगकी तीव्रता सौम्यताका ज्ञान रक्खा जाय तो साध्यासाध्यका पता पहिले ही लग जाता है।

एक बार एक विसर्पका रोगी मेरे पास आया। उसे सप्ताह पूर्व कुछ क्षत हाथकी अंगुलीमें हुआ था, किन्तु विसर्पका शोथ हाथ पर न होकर सिर और कनपटीके आस-पास हुआ। वह कीटाणु घुसे तो इस क्षत स्थानसे ही थे, किन्तु वह क्षत स्थान पर न ठहरे, सीधे रक्तमें चले गये और वह सिर कनपटीके पासके मांसल-तन्तुजायुओंमें घुसकर वहाँ उन्होंने अपनी अभिवृद्धि की इससे वह शोथ एक ओर गर्दनकी तरफ दूसरी ओर चेहरेकी ओर फैलने लगा और उस शोथमें छाले उत्पन्न हो गये।

लक्षण—जब शोथ दाहयुक्त होकर तेजीसे फैल रहा हो उस समय विषमयता उत्पन्न हो जाय तो शीत लग कर तीव्र ज्वर हो जाता है। ज्वरकी तीव्रताशोथ, दाह और विषमयता पर निर्भर है। ज्वर होने पर वमन, शिरः शूल, सर्वांग पीड़ा, तृषा, व्याकुलता अंगमर्द आदि ज्वरके लक्षण साथ होते हैं। कइयोंमें ज्वर चढ़नेके पश्चात् क्षत-स्थानमें फैलनेवाला शोथ व दाह उत्पन्न होता है। कइयोंको

प्रसरणशील शोथ उत्पन्न होनेके बाद ज्वर होता है। शोथ स्थानमें तीव्र जलन होती है, मानों किसीने उस स्थानमें अंगारा रक्खा हो। उक्त शोथ स्थानके लसीका तन्तुजालमें शोथ हो जाता है, इसीसे रक्तस्थ रस वहाँ श्रव-श्रव कर संचित होने लग जाता है। वह स्थान उसके संचयसे आर्द्र शोथका रूप धारण कर लेता है, जिसे अंगुलीसे दबाओ तो दब जाता है, गढ़ा बन जाता है। शोथयुक्त भागके किनारे प्रायः कठिन होते हैं। हाथ लगनेसे तप्त मालूम होते हैं। कई रोगियोंमें चेहरा नाक मुंह गलातक सब शोथयुक्त हो जाता है। इसके विरुद्ध जब शरीरमें एकसे दो सप्ताह तक क्षमता शक्ति उत्पन्न होती है, शरीर सक्षम बन जाता है तो ज्वर जाता रहता है, शोथ घट कर वहाँ खुरंड पड़ने लग जाता है और रोग धीरे-धीरे ठीक हो जाता है।

जिस विसर्पमें दाह अधिक होता है और सर्पणशील शोथमें छाले पड़ने लग जाते हैं उसे अग्नि विसर्प कहते हैं।

कर्दम विसर्प—मेरे पास एक रोगी आया जिसके पैरके ऊपरकी ओर लोहेकी पतरी चुभ गई थी, उस क्षतके कारण पाँच दिन पश्चात् एकाएक उस स्थानके आस पास शोथ और दाह उत्पन्न हो गया। अगले दिन क्षत स्थानके आस पासका मांस गलने लगा। तीन दिनमें ही वह दुअन्नी जितना क्षत धीरे-धीरे बढ़कर आधे फुटमें फैल गया। क्षत बड़ी तेजीसे चारों ओर फैल रहा था। उसके

किनारे उभरे हुए लाल थे, उसका पूय अत्यन्त पीला बदबूदार था। शामको जहाँ तक क्षत हो जाता था उसके आसपासकी त्वचा अच्छी दिखाई देती थी किन्तु वह त्वचा सुबहको–नीली मुरदार (कोथरूप) बन जाती थी, अगले दिन वह गल जाती थी, इस तरह वह क्षत बड़ी तेजीसे बढ़ रहा था। एक डाक्टर तीन दिन तक उसकी चिकित्सा करता रहा, नित्य ही खराब त्वचा मांस काट डालता था अगले दिन फिर उससे आगे और गली त्वचा दिखाई देती थी। रोगीको ज्वर तो साधारण हुआ। किन्तु क्षत स्थानमें दाह दर्द बहुत होता था। अन्तमें मेरे पास रोगी आया और ठीक हुआ। इसी तरह एक स्त्रीके कुक्षि स्थानमें एक व्रण हुआ पश्चात् उस व्रणका कर्दम विसर्प बन गया था। वह बहुत ही सड़ी मुरदार गन्धका पूय उत्पन्न करनेवाला शोथरहित प्रसरणशील क्षत था, जो ६ दिनमें फैलकर स्तनतक अर्थात् १ फीट तक बढ़ गया था, इसमें भी मांस त्वचा गलनेकी प्रक्रिया पूर्ववत् थी। प्रथम जहाँ तक क्षत बननेवाला हो उतनी त्वचा नीली पड़ जाती थी, अगले दिन वह गलकर उसके स्थान पर क्षत बन जाता था, इस तरह यह रोग तेजीसे फैल रहा था। इस रोगिणीको तीव्र ज्वर होता था। जब क्षतकी प्रसारणशीलता रुकी तो समस्त उपद्रव घटते चले गये। कर्दम विसर्पमें विसर्पवत् तीव्र शोथ नहीं होता। कर्दममें क्षत बढ़ता है, साधारण विसर्पमें शोथ बढ़ता है। विसर्पमें

कई बार क्षत बनता है, किन्तु वह कर्दम विसर्पवत् नहीं फैलता, केवल शोथ फैलता है। एक रोगी ऐसा भी देखनेमें आया कि शोथ और क्षत दोनों भिन्न-भिन्न स्थानपर थे किन्तु दोनों ही प्रसरणशील थे। ज्वर उसे १०५ के ऊपर जा चुका था। रोगी मूर्छित हो चुका था, प्रलाप कर रहा था, वह तीसरे दिन संसारसे चला गया।

कक्षा या परिसर्प

सम्भव है कुछ वैद्य कक्षा का अभिप्राय माधव निदानकी कक्षा नामक पिटिकासे लें। या कोषकी वदका अभिप्राय निकालें। किन्तु हमने यहाँ पर कक्षा नामसे चरकजीके दिये एक सर्पणशील अन्य पिटिका रोग को लिया है। इसी रोगका सुश्रुतजीने परिसर्प नाम दिया है और इसी रोगको उपचारसार नामक ग्रन्थके कर्त्ताने सर्पिणी नाम दिया है और इसी रोगको पञ्जाबमें जनेउआ

---

१ बाहु पार्श्वांस कक्षेषु कृष्ण स्फोटां सवेदनाम्। पित्तप्रकोप सम्भूतां कक्षा मित्यभिनिर्दिशेत्॥ माधव। २ यज्ञोपवीत प्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः॥ चरक। ३ शनैः शरीरे पिड़िकाःस्रवंत्यः सर्पन्ति यास्तां परिसर्प माहुः॥ सुश्रुत। ४ सव्यासव्यानिवीतेषु स्थानेष्वा कण्ठ सर्पिणी। कण्ठे तथा व कट्यां च सूत्र वद्रक्त राजियुक्॥ एक द्वित्रिभवां युक्तां सर्पिणीं तांप्रचक्षते। उ. सा.।

तथा युक्तप्रान्त मध्य प्रान्तमें मकड़ीका फिरना या मकड़ी-का विष लगना, मकड़ीका मलना आदि नामोंसे पुकारते हैं। कक्षा शब्दका अर्थ चरकजीने बाहु कक्षा नहीं किया है प्रत्युत उन्होंने वैदिक अर्थ लिया है। कक्षाका वैदिक अर्थ है पटका या मुटका जिसे एक ओर गलेसे ले जाकर दूसरी बाहुके नीचेसे निकाल कर यज्ञोपवीतवत् लपेटते हैं। यह रोग भी यज्ञोपवीतवत् रूप बनाकर वक्ष व पीठ पर फैलता है। इसमें छोटी-छोटी पानीदार फुन्सियाँ एक कतार बनाकर आगे पीछे बढ़ती है, इसीलिये उन्होंने इसका नाम कक्षा दिया है। सुश्रुतजीने उसके प्रसरणशील गुणको देखकर परिसर्प तथा उपचारसारने सर्पिणी नाम दिया है। चरकजीके समयमें यज्ञोपवीत वस्त्र था, जो पटकाके रूपमें लिया जाता था। न कि सूत्ररूपमें। यह पिटिकाएँ प्रायः पृष्ठ वक्षोदरके किसी भाग पर प्रथम दस पाँच मोती दानेवत्

---

५. यज्ञोपवीत = यज्ञ—उपवीतसे बना है। इस समासका अर्थ यज्ञके लिये उपवीत या यज्ञका उपवीत दोनों होते हैं। उपवीतका अर्थ है कपड़ेका टुकड़ा। तैत्तरीय संहितामें उप-वीतके निवीत प्राचीनावीत दो पर्याय आये हैं। वहाँ ग्रन्थ-कार कहता है। "अत्र प्रतीयमानं निवीतादिके वासो विषयम्। न त्रिवृत् सूत्र विषयम्।" चरकजीने इसी अर्थ परक कक्षाको लिया है और उसी पर रोगका नामकरण किया है।

गोल-गोल निकल कर फिर एक ओरसे दूसरी ओर जनेऊके रूपमें फैलती हैं, इसीलिये इन्हें कक्षा कहा।

कारण—बड़ी खोजोंके पश्चात् इस रोगका भी कारण मालूम कर लिया गया है। इस रोगका कारण एक प्रकारके अत्यन्त सूक्ष्म निःस्यन्दनशील जैव हैं जिसका अभी तक वर्गीकरण नहीं किया जा सका। मैं इसके सैकड़ों रोगी देख चुका हूँ। इस रोगका आरम्भ एकाएक होता है। किन्तु इस बातका पता अभी तक नहीं लग सका कि इस रोगके जैव त्वचामें या शरीरमें किस तरह पहुँचते हैं। और उनका केन्द्र कहाँ होता है? न संचयकाल ज्ञात हुआ है।

सम्प्राप्ति—इस रोगके दो भेद दिखाई देते हैं। एक प्रकारकी पिटिकाएँ प्रायः मुँहके किनारे, नाकके किनारे, ओष्ठ, शिश्नअग्रभाग, भगोष्ट पर—जहाँ किसी अंगका उभारदार किनारा बनता है—वहाँ निकलती हैं। यह पिटिकायें प्रायः अन्य रोगोंके मध्यमें या अन्तमें देखी जाती हैं। यथा—विषमज्वरमें-ज्वरमुक्त होनेके समय ओष्ठोंके किनारों पर निकली हैं। इसी तरह फुफ्फुसप्रदाहमें नाकके किनारे पर निकलती हैं। टाइफसमें, उपदंशमें मुँहके किनारों पर होती हैं। इसी तरह कई रोगोंमें देखी जाती हैं। यह गौण परिसर्पिणी कहलाती हैं। यह उस रोगके समय प्रायः एक दो बार निकल कर रह जाती हैं। किन्तु, दूसरी कक्षा नामक

पिटिका प्रायः धड़के किसी स्थान पर एकाएक प्रादुर्भूत होती हैं। पांच दस मसूरकी दालके बराबर या उससे कुछ छोटी पानीदार फुन्सियाँ एकाएक निकल कर उसके बाद उस अंगके दूसरी ओर या उससे लगकर नई-नई पिटिकाएँ निकलती हुई जनेऊके आकारमें फैलती चली जाती हैं। यह किसी रोगकालमें होती हों यह बात नहीं। कई ऐसे भी व्यक्ति इस रोगसे पीड़ित देखे गये हैं जिनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। कोई संचारी व्याधि भी उन्हें कई वर्षोंसे नहीं हुई थी, उन्हें यह रोग हो गया।

लक्षण—जहां पर स्वेत पीतसी दस पन्द्रह पिटिकाएँ उत्पन्न होती हैं वहाँ एकाएक दर्द व जलन उत्पन्न हो जाता है। पिटिकाके आसपासके स्थानमें अकड़ाव व सुर्खी दिखाई देती है। दर्द व दाह दोनों अधिक बढ़ते चले जाते हैं। दो एक दिनके पश्चात् जब यह फैलती चली जाती है तो उस व्यथाके कारण ज्वर हो जाता है। कभी-कभी ज्वर वेगवान् भी होता है। जहाँ पिटिकाएँ एक दिन पूर्व निकल चुकी हों उसके आसपास किसी एक ओर प्रसरण करनेकी प्रवृत्ति इनमें अधिक दिखाई देती है। यह पिटिकाएँ जो कल निकली थीं बहुधा बैठ जाती हैं और उनका वर्ण बदल जाता है। जो पिटिकाएँ उग्ररूप हों वह फूटती भी हैं और उनसे एक प्रकारका विषाक्त रस निकलता है, वह रस जहाँ लगता है वहाँ और पिटिकाएँ उत्पन्न होती चली जाती

हैं। इस तरह पीठकी ओर रोग आरम्भ हुआ हो तो पेटकी ओर बढ़ता चला जाता है, फिर बगलोंकी ओर बढ़ता है और पेटकी ओर उत्पन्न हुआ हो तो पीठ की ओर बढ़ता है। यह रोग शाखाओं पर नहीं होता।

कई रोगी महीनों इससे कष्ट पाते हैं। कुछ रोगियोंमें १०-१५ दिनके भीतर रोग शान्त हो जाता है। जब नई फुन्सियाँ निकलनी बन्द हो जायँ तब समझो कि रोग गया। यह एकबार होकर पुनः भी होता है। किन्तु, इसकी छूत नहीं लगती। अर्थात् एकसे दूसरेको लगते नहीं देखा गया।

औपसर्गिक बालरोग

कूकरकास (कुत्ताखाँसी)

यह बच्चोंका रोग है। १२ वर्षसे अधिकके बालक इस रोगसे पीड़ित नहीं होते। और यह रोग जिसको एक बार हो जाय उसे फिर दूसरी बार नहीं होता। शहरोंमें बारहो महीने बना रहता है। आयुर्वेदमें इस रोगका कहा उल्लेख नहीं आया। हम खोज करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह रोग प्राचीन नहीं है। लगभग दो तीन सौ वर्षके भीतर भारतमें आया है और इसका प्रकोप अधिकतर सिन्ध, पञ्जाब प्रान्तमें अधिक था, अब यह अन्य

प्रान्तोंमें भी फैल गया है। फिर भी बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास आदिकी ओर क्वचित ही देखा जाता है।

यह भयंकर सञ्चारी व्याधि है। घरमें एक बालकको हा रही हो तो बहुत ही जल्दी दूसरे बालकोंको लग जाती है। गली मोहल्लेमें एकको हो रही हो तो उससे कइयोंको हो जाती है। इसकी छूत हवा द्वारा फैलती है। बालक जब लगातार खाँसता रहता है तो उसके मुँहसे खांसते समय थूकके कण हवामें जा मिलते हैं, उन्हीं कणों पर इस रोगके कीटाणु चढ़े होते हैं जो श्वांस क्रिया द्वारा दूसरे बालकोंके भीतर पहुँच जाते हैं, इसका संचयकाल ४ से २१ दिनका है।

कारण—इस रोगका कारण भी एक प्रकारका कीटाणु है। जो हवाई पदार्थों द्वारा संचार करता है। कभी कभी इसका संचार मरकके रूपमें भा देखा जाता है। जहाँ फैलता है सैकड़ों हजारों बालक एक साथ रोग ग्रसित हो जाते हैं।

संप्राप्ति—इसके कीटाणु जब बालकोंके भीतर पहुँचते हैं तो श्वांसप्रणालीको अपना केन्द्र बनाते हैं। अधिकतर यह कण्ठ प्रदेशके आस पास रहते हैं। जो स्थल इनका केन्द्र बनता है वह स्थान इनके प्रभावसे प्रदाहित हो जाता है। इन कीटाणुओंमें एक प्रकारका विष भी उत्पन्न होता है जो उनकी मृत्युसे बाहर आता है और स्थानिक

क्षोभ उत्पन्न करता है। इसीसे स्थानिक कला प्रहर्षित होकर आक्षेपित होती है जिससे एक विशेष प्रकारका क्रम बद्ध कास उठता है। इसमें बालकको एक बारगी कुत्ता भूँकने-की-सी लगातार खांसी चलती है और मिनट-मिनट आधा-आधा मिनट तक लगातार चलती रहती है। खांसी उठने पर या तो वमन हो जाय या जरा बहुत श्लेष्मा निकल जाय तब चैन आ जाता है। यदि इसके कीटाणु श्वासप्रणालीसे आगे बढ़ कर कहीं फुप्फुस कोष्ठों तक जा पहुँचें तो फुप्फुस प्रदाहके लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं और ऐसी स्थितिमें प्रायः बालकोंको आवेग उठने पर प्राणदा नाड़ी विक्षुब्ध होती है और खांसते-खांसते कई बार श्वासकी गति बन्द हो जाती है। फुप्फुसप्रदाह होने पर बहुधा बालक मर जाते हैं।

लक्षण—बहुधा बालकोंकी नासिकासे श्लेष्मका पतला स्राव होने लगता है। कई बालकोंको प्रतिश्यायके चिह्न देखे जाते हैं। छीकें आती हैं, आँखोंसे नाकसे पानी बहता है, दो तीन दिनके बाद एकाएक खाँसी आनी आरम्भ होती है। बालकका चेहरा खांसते समय लाल हो जाता है, आँखोंकी पलकें भारी हो जाती हैं, खांसते समय आँखोंसे पानी बह पड़ता है। खांसी हुप-हुपकी आवाज करती हुई लगातार आधा एकमिनट तक आती रहती है, उस समय या तो वमन होता है या जरा-सी श्लेष्मा बड़ी लहेसदार आ जाती है तब बालकको दम लेनेका अवसर मिलता है। इसके आवेग

जब आरम्भ होते हैं तो धीरे-धीरे बढ़ते चले जाते हैं प्रायः बालकके हँसने रोनेके समय एकाएक आवेग होते हैं। दिनकी अपेक्षा रात्रिको अधिक उठते हैं। रोग वृद्धिकाल पर हो तो आवेगोंकी संख्या बढ़ती चली जाती है, रोग मोक्षकालकी ओर बढ़ रहा हो तो आवेगोंकी संख्या घटती चली जाती है, आवेगोंकी गणना करते रहने पर इससे वृद्धि क्षयका ज्ञान हो जाता है। रोगका वृद्धिकाल प्रायः २०-२५ दिनका होता है इसके बाद घटता चला जाता है। यह रोग लगभग ४०-५० दिन ले लेता है एक प्रकारका अवधि बन्धी रोग है।

जब खाँसी आरम्भ होती है तो इसके साथ ही बालकको मन्द-मन्द ज्वर भी आरम्भ हो जाता है। ज्वरकी मात्रा १०१-१०२ से अधिक नहीं बढ़ती। इस रोगके चिह्न इतने स्पष्ट होते हैं कि बालकोंका चेहरा देखते ही रोगका ज्ञान हो जाता है। रोगारम्भके बाद प्रायः बालकोंके आँखोंकी पलकें कुछ भारी शोथयुक्त होती हैं, तथा चेहरा रोनासा, गला फूला हुआ, आँखें डबडबाई-सी दिखती हैं और खाँसनेका लगातार-कुत्ता भूँकनेका-सा—क्रम रोगको स्पष्ट कर देता है। चिकित्सकके पास बालकको लाने पर—जिसने दो चार रोगी देखे हों चेहरा देखते ही रोग पहचान लेता है। इस रोगके आरम्भ होते ही रोगीके फुफ्फुसोंकी परीक्षा समय-समय पर करते रहना चाहिये। जब रोगका सञ्चार फुफ्फुसकी ओर होता दिखाई दे तभी

इसके रोकनेका चेष्टा करानी चाहिये। वरना एक दो दिनमें फुप्फुस आक्रान्त होते ही बालक संसारसे चल देता है। यह रोग यद्यपि ज्वर प्रधान नहीं, कास प्रधान है। तथापि इसमें कुछ न कुछ आरम्भसे ज्वर होता है और रोगके लक्षणोंमें है इसलिये इसे ज्वर-मीमांसामें स्थान दिया गया है।

कण्ठारोहण (डिप्थेरिया)

यह भी बालकोंका रोग है प्रायः २ से १२ वर्ष तककी आयुके बालकोंमें अधिक होता है।

कारण—यह भी एक प्रकारका औपसर्गिक रोग है। इसके शलाकाकार दो प्रकारके कीटाणु पाये गये हैं। एकसे संघातिक रोग होता है, दूसरेसे सौम्य। कभी-कभी कोई बड़ी उमरके व्यक्ति भी इसके आखेट बन जाते हैं। और यह एक बार हो जाय तो पुनः होनेकी सम्भावना जाती रहती है। एक बार होने पर जो क्षमता शरीरमें उत्पन्न हो जाती है वह सदा बनी रहती है।

सम्प्राप्ति—यह रोग एक विशेष कीटाणुओंके आक्रमणसे होता है। इसमें कण्ठ या तालूकी छत या कण्ठका पश्चात् भाग जो मुँह खोलने पर प्रायः सामनेसे दिखाई देता है। गलायु ग्रन्थिमें या कभी-कभी स्वर यन्त्रके आसपास जिह्वा मूलसे आगे या नासामूल विवरके आसपास प्रायः इस रोगके कीटाणुओंका आक्रमण होते देखा जाता

है। यह कीटाणु प्रायः इन्हीं स्थानोंमें केन्द्रित रहते हैं और यहीं परिवर्द्धित होकर यहीं उनका विनाश होता है। जब यह बढ़ते हैं तो एक प्रकारके तीव्र बहिर्विष भी साथ-साथ उत्पन्न करते जाते हैं, जिसके शरीरमें फैलनेसे विषमयता उत्पन्न होती है और रोगका रूप प्रकट होता है। इसका संचार हवाके द्रव्यों द्वारा होता है, या यह रोगी मनुष्यके खाँसने छींकनेसे अन्योंको लग जाता है। इस रोगके कीटाणुओंका जब किसी बालकके कंठ प्रदेश पर आक्रमण होता है तो इनके प्रभावसे सर्वप्रथम उस स्थानकी श्लेष्माके सजीव कोषोंकी मृत्यु होने लगती है और जब शरीर रक्षक दलको इनके आगमनका पता लगता है तो वह रक्त मार्गसे वहाँ पहुँचने लगते हैं। किन्तु इन कीटाणुओंकी प्रबल संहारकारी शक्तिके आगे उन विचारोंकी कोई पेश नहीं जाती, वह भी वहीं मरते चले जाते हैं। इस तरह कलाकोष्ट श्वेताणु, कीटाणु आदिके पारस्परिक संग्रामसे भर जाती है और नके मृत शरीर तथा कीटाणु विषका जो वहाँ मिश्रण होता है उससे एक विशेष प्रकारकी कृत्रिमकला जिसका वर्ण आरम्भमें धूसरवर्ण नील हरित पीला होता है—बनती चली जाती है। इस कृत्रिमकलाका प्रथम आकार गोल बल्लासा बनता है। कभी-कभी यह धब्बे दो तीन या पाँच तक मुँहके भीतर इधर उधर देखे जाते हैं। जो प्रायः गलशुण्डिकाके दोनों ओर या गलायु ग्रन्थियों पर या गल

सुण्डिका पर या तालु भाग पर प्रथम दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे यह कृत्रिमकलाका धब्बा फैलता जाता है और कई बार गले तक फैल जाता है, और स्वरयन्त्र तक पहुँच जाता है। गलेमें इस कलाके कारण शोथ उत्पन्न होकर श्वासावरोध होने लगता है। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो तो प्रायः मृत्युका भय बना रहता है। इस रोगको देख कर कुछ वैद्योंने इसे शास्त्रीय रोहणी माना है। किन्तु; लक्षण मिलाये जायँ तो दोनोंके लक्षण नहीं मिलते। आयुर्वेद ग्रन्थोंमें रोहणीका स्थान जिह्वामूल व गला माना है। और कहा है कि [1]दोषोंके प्रकोपसे वहाँका मांस रक्त दूषित हो जाता है तथा गलेमें शोथ और अंकुर उत्पन्न होकर गलेके मार्गको रोक देते हैं। सुश्रुतजीने इसके वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त और मेदकी रोहणी नामसे छः भेद किये हैं तथा आपने उक्त विभेदोंके लक्षण देते समय यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक रोहणीके शोथमें साथ ही मांसांकुर उत्पन्न होते हैं तथा वह मांसांकुर पकते भी हैं। वह कहते हैं कि [2]वातकी रोहणीमें

---

१ गलेऽनिलः पित्त कफौ च मूर्छितौ प्रदूष्यमांसं च तथैव शोणितं। गलोपसंरोध करैस्तथांकुरैर्निहन्त्यसून् व्याधिरयं हि रोहिणी। जिह्वा मूलेऽव तिष्ठन्ते विदहन्तः समुच्छ्रितः। जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विधाः। तं शीघ्र कारिणं रोगं रोहणीति विनिर्दिशेत्। चरक

२ जिह्वा समन्ताद् भृशवेदनास्तु मांसांकुराः कण्ठ निरोधि-

शोथ, वेदना, मांसांकुर और कण्ठावरोध होता है। पित्तकी रोहणीमें तीव्र दाह, पाक, वेदना व ज्वर होता है। श्लेष्मकी रोहणी स्रोतोंको रोधन करनेवाली स्थिर भारी देरमें पकने वाली होती है। सन्निपातकी रोहणी गम्भीर पाकी असाध्य होती है। और रक्तकी रोहणीमें छाले उत्पन्न होते हैं। और वह छाले बढ़कर कण्ठका अवरोधन करनेवाले हों तो उसे मेदकी रोहणी कहते हैं। कण्ठारोहणमें न तो मांसांकुर उत्पन्न होते हैं न जिह्वा मूलसे रोगका आरम्भ देखा जाता है। दूसरे कण्ठारोहण बालकोंका रोग है, रोहणीके सम्बन्धमें यह निर्देश नहीं किया गया कि यह बालकोंका रोग है, यदि ऐसा होता तो शास्त्रकार इसे बालरोगोंमें न रखते? किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया; फिर कण्ठारोहणमें पाक नहीं पड़ता, हाँ गलायु ग्रन्थि जब शोथयुक्त होती हैं ऐसी स्थितिमें यदि कहीं पूयोत्पादक कीटाणुओंका प्रवेश हो जाय तो उन ग्रन्थियोंके शोथमें पूय अवश्य पड़ जाता है। किन्तु जिह्वांकुर इसमें नहीं बढ़ते। दूसरे कण्ठारोहणमें जो कृत्रिम

नाये। सा रोहणी वात कृता प्रदिष्टा। क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाह पाका तीव्र ज्वरापित्त निमित्त जाता। स्रोतो निरोधिन्यपि मन्द पाका स्थिरांकुरा या कफ सम्भवा सा। गम्भीर पाकिन्य निवार्यवीर्या त्रिदोष लिंगा त्रितयोत्थिता च। स्फोटैश्चिता पित्त समान लिंगा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकातु। दुष्ट मेदसोऽभिजाताये स्फोटास्तु कण्ठरोधिनः। मेदोऽभिभूतांस्तानाहू रोहणीं तां प्रचक्षते। सुश्रुत।

'कला उत्पन्न होती है यदि वह उपकला तक सिमित हो तो उतारनेसे उतर जाती है, यदि कला विशिष्टमें हो और उसे छुड़ानेकी चेष्टा करें तो वह नहीं छूटती प्रत्युत रक्तस्राव होने लगता है। इस तरहके कृत्रिम आवरण बननेका शास्त्रमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस कृत्रिम कलाको जिह्वांकुर नहीं कह सकते। मेरे विचारमें एक संचारी रोगसे क्षुद्र-रोगोंमें कहे गये इस रोहणी रोगको मिलाना भयंकर भूल होगी। यदि हम ऐसा करेंगे तो रोगकी स्थितिको कभी भी समझ नहीं सकेंगे न कभी चिकित्सामें ही सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

लक्षण—इस रोगका संचयकाल १ दिनसे ८ दिनका देखा जाता है। जब इसका संचार होता है तो अनेकों बालक इससे पीड़ित पाये जाते हैं। इसमें एकाएक बालकके गला, तालुमें प्रथम कुछ दर्द होता है, ग्रीवा कुछ अकड़ीसी प्रतीत होती है, मुँह खोल कर देखा जाय तो कृत्रिमकलाके धब्बे दिखाई देते हैं किसीके गलायु ग्रन्थिमें शोथ व गलेमें लालिमा भी दिखाई देती है। यह कृत्रिमकला धीरे-धीरे एक दो दिनमें फैलती चली जाती है और रोगीको इसी बीच ज्वर हो जाता है। ज्वर प्रायः १०१ से १०३ तक ही रहता है। मुँहसे एक विशेष प्रकारकी गन्ध आने लगती है। जैसे-जैसे यह कृत्रिमकला मुँहके भीतर गलेकी ओर फैलती जाती है रोगी पीड़ा, ज्वर, श्वासकष्ट, और भोजन या थूक निगलनेमें कष्टका अनुभव

करता है। कंठकी लसिकाग्रन्थियां भी फूल जाती हैं। यह रोग सौम्य हो तो दस दिनमें उक्त लक्षण घट कर मिट जाते हैं। यदि कहीं रोग उग्र हो और विषमयता हो जाय तो हृदयावसाद या श्वासावरोधसे प्रायः ८–१० दिनमें मृत्यु हो जाती है। जो बालक उग्रकण्ठारोहणसे बचते हैं, उनमेंसे अनेकोंको पक्षाघात या नेत्र संचालनी, नासा संचालनी आदि मौखिक मांसपेशियोंका आघात हो जाता है, जिससे कोई रोगी वक्रदृष्टि, वक्रमुख, वक्रनासा या किसी शाखाके आघातसे कुछ समय तक प्रपीड़ित बने रहते हैं। यह अंगोंका आघात विषमयताके कारण ही उत्पन्न होता है।

भेद—यह कण्ठारोहण स्थान भेदसे ४–५ प्रकारका है। केवल नासाविवरमें हो तो इसे नासारोहण कहते हैं। यदि स्वरयन्त्रमें हो तो स्वरारोहण कहते हैं। कण्ठतक भीतरकी ओर इसका प्रसार हो तो इसे कण्ठारोहण और यदि इस रोगके होने पर शरीरके किसी भीतरी अंगसे रक्तस्राव हो तो उसे रक्तज कण्ठारोहण कहते हैं। जब रोग भिन्न-भिन्न स्थानोंका आश्रय लेकर उत्पन्न होता है तो इसके लक्षणोंमें कुछ न कुछ स्थानिक अंगोंके लक्षणोंकी विशेषता अवश्य उत्पन्न हो जाती है।

इस रोगके लक्षण आयुर्वेदमें दिये अजघोष[1] सन्निपातके

---

१ छगलक शरीरगन्धः स्कन्ध रुजावान्निरुद्ध गलरन्ध्रः। अजघोष सन्निपाते अताम्राक्षः पुमान् भवति।

लक्षणोंसे मिलते हैं, अजघोषसन्निपातके रोगीके मुँहसे बकरेके गन्धवत् गन्ध आती है। स्कन्ध और सिरमें दर्द होता है, गलेका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, नेत्र सफेद होते हैं, ज्वर साथ होता है। यह लक्षण उक्त कण्ठारोहणसे मिलते हैं।

रोमान्तिका

कारण—बड़े अनुसन्धानके बाद इस रोगके कारणीभूत जैव ज्ञात हुए हैं, यह जैव भी अत्यन्त सूक्ष्म निस्यन्दनशील (सूक्ष्म छन्नोमेंसे छनकर निकल जानेवाले) हैं। इसीलिये इनका वर्गीकरण नहीं हो सका।

यह भी सञ्चारी रोग है किन्तु, इसका सञ्चार हवाई द्रव्योंके द्वारा होता है, ऐसा विश्वास किया जाता है। दूसरे यह अवधिबन्धीज्वर है। प्रायः १४ दिन लेता है, यदि उपद्रव खड़े न होजायँ तो १४ दिनमें उतर जाता है और उपद्रव बढ़ जाय तो अवधि बढ़ जाती है, वरना निश्चित समयमें रोगी राजी हो जाता है।

यह रोग बालकोंका रोग है, प्रायः वर्ष डेढ़ वर्षके बालकसे लेकर १०–१२ वर्षके बालकोंमें ही अधिक देखा जाता है। कभी किसी पूर्ण वयस्कको भी होता है और प्रायः शीतकालके अन्तमें व वसन्तमें अधिक फैलता है।

यह रोग सारे संसारमें फैला हुआ है। किन्तु, तीव्र-मारक नहीं है।

सम्प्राप्ति—इस रोगके जैव जब शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं, तो श्वसनप्रणाली व लसीकाग्रन्थियोंमें अपना केन्द्र स्थापन करते हैं। इसीसे नासाविवरसे लेकर श्वसन-प्रणाली तक कुछ साधारण प्रदाह व क्षोभ उत्पन्न होता है। इसका सञ्चयकाल ३ से ५ दिनका है।

प्राग्रूप—सञ्चयकालके पश्चात् ही एकाएक बालकोको प्रतिश्याय होता है, छींकें आती हैं, शरीर सुस्त हो जाता है, भोजनको रुचि नहीं होती, पश्चात् साधारण-सा ज्वर हो जाता है। कइयोंको प्रथम ज्वर होकर उसके साथ प्रतिश्याय होता है। नाक बहती, आँखोंसे जलका स्राव होने लगता है, छींकें अधिक आती हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं, नेत्रोंके पलक ऊर्ध्व चन्द्रकार शोथ पूर्ण होते हैं, दूसरे दिन मुखके भीतर गालोंकी श्लैष्मिक कलामें चर्वणदन्तके सन्मुखकी श्लैष्मिक कलामें और कभी-कभी ओष्ठके भीतर भी अत्यन्त छोटी-छोटी सरसोंके दानेवत् पिटिकाओंका गुच्छा भिन्न-भिन्न स्थान पर दिखाई देता है और उसके आस-पासकी कला रक्ताभ होती है, तथा वह दाने नीलिमायुक्त बीचमें जरासे श्वेत पीत दिखते हैं। यह दाने ज्वरारम्भके तीन दिन प्राग्रूपमें देखे जाते हैं। उक्त लक्षणोंके यदि साथ दिखाई दें तो निश्चित हो जाता है कि इस बालकको

खसरा निकलने वाला है। प्रायः देखा गया है कि पञ्जाबमें उक्त चिन्ह देखकर विना चिकित्सककी सहायताके स्त्रियाँ बतला देती हैं कि इसे खसरा है।

लक्षण—तीसरे दिन जब शरीर पर दाने निकलनेवाले हों ज्वर कुछ अधिक हो जाता है। प्रायः खाँसी आने लगती है। नाकसे प्रतिश्यायका जो जल बहता है, वह कुछ गाढ़ा हो जाता है, गलेमें दर्द होता है। अधिक छोटे बालकोंको प्रायः अतिसार आते हैं, जिनका वर्ण हरित पीत होता है। जिह्वा मैली हो तो प्रायः सर्व प्रथम खसराके दाने मस्तक, कानोंके पीछे, चेहरे पर जहाँ-तहाँ दिखाई देते हैं। जहाँ यह दाने निकलनेवाले हों वहाँ प्रथम सुर्खी छा जाती है, चेहरा कुछ शोथपूर्ण-सा प्रतीत होता है, हाथ फेरने पर उन दानोंका स्पर्श प्रतीत होता है। फिर वह एक आध दिनमें ही स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, इनका वर्ण लाल किञ्चित उभारयुक्त होता है। धीरे-धीरे यह सारे शरीर पर दिखाई देते हैं। यह दाने कठिन होते हैं, कई बार तो सारे शरीरकी त्वचा लाल हो जाती है। दो तीन दिनमें यह दाने फैल कर परस्पर मिलते चले जाते हैं और उनका जगह-जगह गुच्छा-सा बन जाता है। रोगी निर्बल हो या अन्य किसी ज्वरादिसे पीड़ित हो चुका हो तो उस स्थितिमें यह रोग वेगवान् होता है। कइयोंको इसमें श्वसन प्रदाह (बच्चोंका न्यूमोनियाँ) हो जाता है। कइयोंकी गलायुग्रन्थिशोथ

स्वर-यन्त्र प्रदाह, मुखपाक, पुच्छान्त्रशोथ, वृक्क शोथ आदि उपद्रव देखे जाते हैं। इस तरह यह रोग सौम्य रूपमें ही होता है। दाने निकलनेके पश्चात् सारे शरीरमें कुछ जलन व खारश होती है और कुछ आद्रता प्रतीत होती है, तथा शरीरसे एक विशेष प्रकारकी गन्ध आती है। दाने प्रायः सातवें दिन मुर्झाने लगते हैं और दो तीन दिनमें ही सारे शरीर का वर्ण बदल जाता है। जब दाने मुर्झाने आरम्भ हो जायँ तो स्त्रियाँ इस दशाको माता लौट गई = फिर गई कहती हैं। यदि उपद्रव न उठे हों तो १३–१४ वें दिन तक सारे लक्षण शान्त हो जाते हैं और जहाँ-जहाँ शरीर पर दाने निकले थे वहाँ से भूसी-सी उतरनी आरम्भ होती है। पाँच सात दिनमें रोगी ठीक हो जाता है।

श्वसन प्रदाह (पसली चलना)

रोगका रूप—यह श्वासयन्त्रकी स्थूल व सूक्ष्म प्रणालियोंका प्रदाह होता है। यह रोग होता बड़ोंको भी है। पर छोटे दूध पीते बच्चोंको अधिक होता है या जिनको रोमान्तिक, कूकरकास, गलायुशोथ, तालुपात आदि कोई रोग हो चुका हो या हो रहा हो उसके मध्यमें भी यह रोग एकाएक हो जाता है। बोलचालमें इस रोगको पसली चलना या बच्चोंका डब्बा रोग कहते हैं।

कारण—इस रोगका कारण पीछे चार प्रकारके जो फुफ्फुसप्रदाहके कीटाणु बताये गये हैं, उन्हीं में से यह एक

इस रोगके होने पर कोई ही भाग्यशाली बालक बचता है। यह रोग पञ्जाबमें कँवेड़के नामसे प्रख्यात है। कोई-कोई इसे बच्चोंकी मिरगीका भो नाम देते हैं, यूनानी वाले इसे उमसलसीबियाँ कहते हैं। आयुर्वेदज्ञ ग्रहजुष्ट या ग्रहापस्मार नाम देते हैं। बड़ा घातक रोग है। यह रोग प्रायः १ वर्षसे लेकर ५ वर्ष तकके बालकोंको ही होता है। १॥ से ३ वर्ष तकके बालकोंको अधिक देखा जाता है। रोग प्रायः वसन्त या शरदृऋतुमें अधिक होता है।

कारण—इस रोगका कारण अत्यन्त सूक्ष्म जैव जाना गया है, जो निस्यन्दनशील है। वर्गीकरण नहीं किया जा सका। रोग औपसर्गिक है, किन्तु स्पर्श सञ्चारी नहीं, न इसकी छूत ही घरके और बच्चोंको लगती है। इसका सञ्चार हवाई साधनोंसे होता है, हवाई द्रव्य इसके वाहक हैं और श्वास मार्गसे इस रोगके जैवोंका शरीरमें प्रवेश होता है और शीर्ष मण्डल इनका केन्द्र होता है। यह प्रायः नासिका के भीतर पहुँचकर वहाँ से सीधे ही शीर्षकी ओर बढ़ते हैं और शीर्ष मण्डलमें घुसकर उप-

---

त्त्रस्यति रोदिति। नखैदन्तैः दारयति धात्री मात्मान मेव च॥ ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत्कूजति जृम्भते। भ्रुवौक्षिपति दन्तोष्ठं फेन वमति चासकृत्॥ क्षामोऽतिनिशि जागर्ति शूनांगो भिन्नविट् स्वरः। मांस शोणित गन्धिश्च न चाश्नाति यथापुरा। सामान्य ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम्॥

मस्तिष्क, सुषुम्नाशृङ्ग, व शीर्ष भागके सजीव कोषोंमें अपनी स्थिति दृढ़ बनाकर वहीं सञ्चयकाल पूर्ण करते हैं। इनका सञ्चयकाल ५ से १२ दिनका होता है। इतनेमें यह परिवर्द्धित होकर रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

यह रोग शीर्षमण्डलके कई स्थानोंमें प्रसर जाता है और जहाँ-जहाँ इसके जैव केन्द्रित होते हैं वहाँके कोषोंमें प्रदाह और उनके क्रिया कलापका नाश यह दो बातें उत्पन्न हो जाती हैं। इन जैवोंके प्रभावसे जो विष बनता है वह आसपासके सजीव कोषोंको निष्क्रिय निर्जीव करता चला जाता है इससे स्नायु तन्तु कोष गल कर नष्ट होने लगते हैं इसका प्रभाव समस्त स्नायु जाल पर पड़ता है इससे आक्षेप आते हैं और मृत्यु या अँगघात इसका अन्तिम परिणाम है।

लक्षण—रोगका रूप एकाएक प्रकट होता है। भिन्न-भिन्न बालकोंमें आरम्भिक लक्षण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। परन्तु शिरःशूल, सन्धिवेदना, शरीरमें दर्द, अकड़ाव त्वचामें विवर्णता या ललाई प्रायः दिखाई देती है। एकाएक ज्वर हो जाता है, नाड़ी तीव्रगामी होती है। एक आध दिनमें ही मेरुदण्डके आसपासकी पेशियां कठिन हो कर तन जाती हैं और बालकको मृगीके जैसे दौरे होने लगते हैं। सिर पीछेको खींचता चला जाता है, हाथ पैर आक्षेपित होते हैं, मुट्ठी बन्द हो जाती है या अंगुलियाँ टेढ़ी हो जाती हैं नेत्र फिर जाते हैं दौरेके समय मल-मूत्र

स्वतः निकल जाता है बालक बेहोश होता है। जबड़ा मिल कर मुँह बन्द हो जाता है मुशकिलसे मुंहमें पानी दिया जाता है। किसी-किसीके मुंहसे दौरेके समय लार बहती है, किसीको झाग आता है। दौरेके समय नाड़ी क्षीण हो जाती है, हाथ-पैर व गर्दन अकड़ जाती है। इस तरह दौरे या रोगके आवर्त दिन रातमें कई-कई बार आने लगते हैं। प्रायः इसमें बालक ३ से ७ दिनके भीतर किसी आवर्त-कालमें हृदयकी गति रुक जानेसे एकाएक ठण्ढा पड़ जाता है। इसकी अवधि ७ दिनसे अधिक नहीं होती। जो रोगी बच भी जाते हैं उनके किसी न किसी अंगका आघात हो जाता है। किसीको अर्धांग, किसीको एकांग, किसीको अर्दित या और किसी ज्ञानेन्द्रियका आघात होता है। जो अंग आघा-तित होते हैं उनके शीर्षकोष प्रायः मर जाते हैं, इसीसे वह अंग सिकुड़ कर छोटे हो जाते हैं। उनमें पूरा पूरा रक्त संचार नहीं हो पाता। उस अंगका वर्ण भी मृतवत् काला पड़ जाता है। ९० प्रतिशत बालक मर जाते हैं। आयुर्वेदमें अहजुष्ट रोगके नामसे इसका उल्लेख आया है।

बृहत् मसूरिका

इस रोगमें मसूरकी[1] दालके बराबर उसके रङ्गसे मिलने वाले त्वचा पर दाने निकलते हैं इसीलिये शास्त्रकारने

---

[1] या सर्व गात्रेषु मसूर मात्रा मसूरिका पित्त कफात्प्रदिष्टा। चरक। मसूर मात्रास्तद्वर्णास्तत्संज्ञाः पिटिका घनाः। अष्टांग संग्रह॥

इसका नाम मसूरिका दिया है। आम प्रचलित भाषामें इसे बड़ी माता, बड़ी चेचक, बड़ी शीतला आदि नामोंसे पुकारते हैं। यह बालकोंका रोग है। किन्तु बड़ोंको भी होता है। यह रोग वसन्तमें अधिक होता है।

कारण—खोजोंसे इसके भी निस्यन्दनशील जैव ज्ञात हुआ है। किन्तु वर्गीकरण नहीं किया जा सका। इस रोगके जैवोंका प्रवेश हवाई साधनोंसे होता है, कुछ विद्वानोंकी राय है कि इसका मक्खियों द्वारा एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तियोंमें सञ्चार होता है। स्पर्श सञ्चारी रोग तो यह अवश्य है।

इस रोगके जैव शरीरमें प्रवेश करके रक्तमें बढ़ते हैं, तथा साथ-साथ विष भी बनाते हैं, इसीसे रोगका रूप प्रकट होता है। इसका सञ्चयकाल ७–१२ दिनका है। जो कारण पाकर लम्बा भी हो जाता है।

सम्प्राप्ति—इस रोगके जैव रक्तस्थ होकर वहाँ वृद्धि करते हैं, वहाँ विष भी बनाते हैं, उसके प्रभावसे अकस्मात् ज्वरादि उपद्रव तथा स्फोटी पिटिकायें निकलती हैं।

लक्षण—[1]इसमें अकस्मात शीत लग कर ज्वर हो जाता है, ज्वरके विशेष लक्षण अङ्गमर्द, शिरःशूल, कटि शूल,

१ ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत्। सप्ताह निःसरत्येषा सप्ताहात्पूर्णतां व्रजेत्॥ ततस्तृतीय सप्ताहे शुष्यति स्खलति त्वच। तासां मध्ये यदा काश्चित् पाकं गत्वा स्रवन्ति च॥

वमन, अरुचि, भ्रमादि साथ होते हैं। ज्वरके तीसरे या चौथे दिन मस्तक चेहरे और हाथों पर मसूरिकाके दानेवत् दाने उभर आते हैं, जो २४ घण्टेके लगभग सारे शरीर पर फैल जाते हैं। यह बाहर त्वचापर ही नहीं निकलते, प्रत्युत शरीरके भीतर पोले भागमें जहाँ-जहाँ श्लेष्मिक कला चढ़ी होती है। वहाँ भी निकलते हैं, यहाँ तक कि नेत्राण्डमें भी निकल आते हैं। इस रोगमें निकली मसूरिकाकी चार अवस्थाएँ होती हैं। उद्गम, द्रवीभवन पूयीभवन और शुष्कीभवन। उद्गम अवस्थामें दाने निकलते हैं, जो कठिन होते हैं। दूसरे दिनसे उनमें द्रवता आती है, तीन चार दिनमें वह द्रवीभवन बन जाती हैं। यदि कोई और पूयोत्पादक कीटाणुओंकी उपस्थिति शरीरमें न हो तो तीन चार दिनमें वह मुरझाने लगती हैं और शुष्कीभवनकी अवस्था आ जाती है। यदि कोई पूयजनक कारण विद्यमान हो तो फिर द्रवीभवनके बाद पूयीभवनकी अवस्था आ जाती है, इसीके कारण बहुत रोगी मर जाते हैं। क्योंकि इस स्थितिमें ज्वर फिर बढ़ जाता है, पूयीभवन न हो तो इसकी मियाद १३-१४ दिनकी है। यदि पूयीभवन हो तो २०-२१ दिन लग जाते हैं। एक बार यह रोग होने पर पुनः नहीं होता। रोग होने पर शरीर सक्षम हो जाता है। इसी बातको देखकर कृत्रिम विधिसे क्षमता उत्पन्न करनेका साधन-टीका-निकाला गया। गो मसूरिकाका टीका लगानेसे

वास्तवमें मसूरिकाके लिये क्षमता उत्पन्न हो जाती है। जो ६–७ वर्ष तक बनी रहती है।

लघुमसूरिका[1] (कोद्रव[2])

इसको पंजाबमें लाकड़ा-काकड़ा, अन्य प्रान्तोंमें आकड़ा काकड़ा, मोतिया, छोटी माता आदिके नामसे पुकारते हैं। यह प्रायः ५–१२ वर्षके बालकोंको अधिक होता है।

कारण—विशेषज्ञोंकी राय है कि कक्षाके जैव और इस रोगके जैव एक हैं।

सम्प्राप्ति—जब जैव रक्तस्थ होकर जैवमयता और विषमयता उत्पन्न करते हैं तब इसकी समस्त शरीर पर पिटिकायें निकलती हैं और जब यह रक्तस्थ जैवमयता उत्पन्न न कर त्वचामें ही केन्द्रित रहते हैं तो कक्षा या परिसर्पका कारण होते हैं। कक्षा और इसके दाने एक ही वर्ण व आकृतिके बनते हैं। उर्दकी दाल जितने प्रायः गोल उभारदार दाने होते हैं। इनमें पूय प्रायः नहीं पड़ता। इसका संचयकाल ११ से २१ दिनका है।

लक्षण—यह दाने एकाएक प्रायः बिना ज्वरके ही प्रथम निकल आते हैं। कइयोंको साधारण ज्वरके बाद निकलते हैं। वृहत् मसूरिकाके दाने प्रायः सर्वप्रथम मुँह

---

१ तोयबुद्बुद सकाशास्त्वग् जाताश्चमसूरिकाः। स्वल्प दोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति ते॥ सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा शान्ति यांति विनौषधैः। २ जलभुक् कोद्रवोऽगेषु विध्यतीव विशेषतः।

पर निकलते हैं, इसके सर्वप्रथम पेट पर निकलते हैं और प्रायः विरल होते हैं। फिर शाखा चेहरे आदि पर फैलते हैं। वृहत् मसूरिकाके दाने एक बारमें ही निकल आते हैं, किन्तु इसके दाने कई बारमें तीन चार दिनतक निकलते रहते हैं और उनका भिन्न समूह दिखाई देता है। इसके दानोंमें बहुत जल्दी तरलता आती है और वह तरलता जल्दी ही एक दो दिनमें घट कर दाने शुष्क हो जाते हैं। वृहत् मसूरिकामें ऐसी बात नहीं होती। दूसरे वृहत् मसूरिकामें तरलीभवनके बाद हरएक दानोंके मध्यमें गहराव उत्पन्न हो जाता है उसके साथ पूयीभवन बनता है। इसके दानोंमें कोई गहराव नहीं आता। यह उसी स्थितिमें बैठ जाते हैं। लघुमसूरिकाकी अवधि प्रायः ८–९ दिनकी होती है, वृहत् मसूरिकाकी २०–२१ दिन की।

आयुर्वेदज्ञ दोषवादको प्रधानता देते थे। इसीलिये उन्होंने दोषोंके न्यूनाधिक कोपके कारण दोनों मसूरिकाओंको एक ही माना है। उनके मतमें अवधि, कोप, लक्षणादिका अन्तर दोषोंकी विषमता और उनकी न्यूनाधिक मात्राके सान्निध्य सम्बन्धसे होता है और मसूरिकाके होनेमें ग्रहोंका कोप[1] भी माना है। इन अनुमानजन्य स्थितिका समर्थन अब कहींसे भी नहीं मिलता है।

---

१ क्रुद्धग्रहेक्षणाद्वापि देहे दोषाः समुद्धताः।

वास्तवमें दोनों मसूरिकाओंके कारण भिन्न हैं। इसलिये उनकी सम्प्राप्ति, रूप, व अवधि, सबमें भिन्नता है।

अरुणोज्वर

यह ज्वर भी छोटे २-१० वर्षके बालकोंको ही अधिक होता है। भारतवर्षका यह रोग नहीं है किन्तु पंजाब प्रान्तमें कुछ समयसे दिखाई दे रहा है। इसको इंग्लिश ...

कहते हैं।

कारण—इस रोगका कारण पूयजनक कीटाणुओंमेंसे उसी जाति भेदका एक कीटाणु है, जिसके द्वारा प्रसूतिका ज्वर होता है।

सम्प्राप्ति—यह कीटाणु गलायुग्रन्थि, नासामार्ग, कण्ठ आदिमें प्रायः पाया जाता है और इसकी विद्यमानतासे बहुतोंको गलायु ग्रन्थि शोथ तथा नासापुट शोथ आदिके विकार देखे जाते हैं। जब यह किसी तरह रक्तस्थ हो जाय तो इससे एक प्रकारका विष उत्पन्न होता है जिसके प्रभावसे ज्वरादि उपद्रव बहुत होते हैं। इसका संचयकाल ३—७ दिनका है और इस ज्वरकी अवधि ७ दिनकी होती है। प्रायः यह ज्वर वर्षाकालमें या वसन्तमें अधिक देखा जाता है।

लक्षण—एकाएक बिना प्राग्रूपके ज्वर हो जाता है। और साथ ही ज्वरके अन्य लक्षण अंगमर्द, वमन, सिर दर्द आदि भी थोड़े बहुत होते हैं। ज्वर होनेके एक

दिन पश्चात् गर्दन व छाती पर हिरमिजीवर्णके धब्बे सबसे पहिले निकलते हैं जो सारे शरीर पर फैल जाते हैं किन्तु, चेहरे पर यह नहीं निकलते। इन धब्बोंमें नन्हें-नन्हें दानोंके कुछ उभार भी दिखाई देते हैं जो ध्यानसे देखने पर दिखते हैं। यह धब्बे प्रायः दो तीन दिन तक रहते हैं फिर उनका वर्ण बदल जाता है और राजी होने पर उनसे भूसीसी उतरती है। इस ज्वरके होते ही हृदयपर इसके विषका कुछ ऐसा प्रभाव अधिक होता है कि उसकी गति बढ़ जाती है। इसीलिये इस ज्वरमें उत्तापकी अपेक्षा नाड़ीकी गति बहुत बढ़ी हुई होती है। ज्वर यदि १०३–१०४ हो तो नाड़ीकी गति १३०–१४० या इससे भी ऊपर होती है। ज्वरका वेग उसी समय तक अधिक रहता है जब तक धब्बे मुरझाने नहीं लगते। उनके मुर्झाते ही ज्वर उतर जाता है। और प्रायः रोगी ७ वें दिन राजी हो जाता है। रोग अधिक भयप्रद नहीं, सौम्य है और भारतीय चिकित्सकोंके लिये नया है।

रक्तमसूरिका

यह भी बालकोंका जैवी रोग है। और बहुत थोड़े समयसे पंजाब प्रान्तमें देखा जाता है। इस ज्वरकी अवधि प्रायः ३-४ दिन की होती है। संचयकाल, प्रसार व कारण आदि अभी जाने नहीं गये हैं।

लक्षण—रोगारम्भमें प्रथम कुछ कण्ठ दुखता है, गल

ग्रन्थियोंमें कुछ शोथ भो हो जाता है। फिर मन्द ज्वर हो जाता है और अगले दिन गले, पर तथा छाती पर प्रथम मूंगके दाल जितने रक्तवर्णके उभारदार दाने निकल आते हैं। बहुतसे बच्चे तो ज्वर होने पर और दाने निकलने पर भी कोई कष्ट नहीं मानते, खेलते रहते हैं। तीसरे दिन वह दाने मुरझा जाते हैं और ज्वर जाता रहता है। कई पंजाबके वैद्य इस रोगको देखते हैं। ३-४ दिनमें रोगीको अपनेआप राजी होता देखकर कहते हैं यह कोई मामूली-सा रोग है। कर्नल फ्लास्टर नामके एक अंगरेज विशेषज्ञने पञ्जाबमें ३ दिनके ५ दिनके ऐसे और भी कई ज्वर मालूम किये हैं, जो प्रायः कुछ फ्रण्टियरमें कुछ पर्वतोंकी तराइयोंमें तथा कुछ मध्य पञ्जाबमें—प्रायः ऋतुओंके परिवर्त्तन कालमें देखे जाते हैं। इन ज्वरोंके सम्बन्धमें अनुसन्धान करना और उनकी नवीनता प्राचीनताको जानना केवल डाक्टरोंका काम अवश्य दिखता है। वैद्य बिचारे तो यही समझते हैं कि जितने ज्वर आयुर्वेदमें वर्णित हैं उन्हींमेंसे यह भी कोई होगा। वह ज्यादा बुद्धि लड़ावेंगे तो दोषोंके कथित लक्षणों द्वारा उनके लिये इतना ही जान लेना काफी है कि यह अमुक दोषोंके मेलसे द्वन्द्वज या त्रिदोषज है। उनके लिये नया तो कुछ है ही नहीं।

कर्णफेर

यह भी बालकोंका रोग है। २ वर्षसे लेकर १२–१५

वर्षके बालकोंको ही अधिक होता है। कभी-कभी बड़ोंको भी हो जाता है। पञ्जाबमें इसको कनपेड़े कहते हैं। आयुर्वेद ग्रन्थोंमें पाषाण गर्दभ नामसे जो रोगके लक्षण दिये हैं वह लक्षण इससे मिलते हैं। अन्तर एक दो बातोंका है, कर्णफेरमें प्रायः बालकोंको कुछ ज्वर होता है। पाषाण गर्दभके साथ ज्वरके होनेका कोई उल्लेख नहीं। दूसरे पाषाण गर्दभ क्षुद्र रोगाधिकारमें दिया गया है, इसलिये सम्भावना होती है कि यह कर्णफेरसे भिन्न न होगा।

कारण—कर्णफेर जैवी रोग है, किन्तु इस रोगके जैव भी यन्त्रातीत हैं इसलिये इनका वर्गीकरण नहीं हो पाया। रोग वायव्य संचारी हैं और हेमन्त, वसन्त ऋतुमें प्रायः फैलते देखा जाता है।

सम्प्राप्ति—ऐसा विचार है कि इस रोगके जैवोंका आक्रमण कर्ण मूल लाला ग्रन्थि पर प्रथम होता है। अन्य-लाला ग्रन्थियाँ भी प्रभावित होती हैं पर केन्द्रस्थल कर्णमूल ग्रन्थ ही रहती हैं। प्रायः प्रथम एक ओर की ग्रन्थि पर रोगका आक्रमण होता है। फिर दो तीन दिनमें दूसरी भी आक्रान्त हो जाती है।

लक्षण—इसमें बालकोंके कानके नीचे जबड़ेकी

---

१ वात श्लेष्म समुद्भूतः श्वयथुर्हनुसधिजः। स्थिरोमन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः॥

सन्धिमें एकाएक कुछ दर्द हो कर शोथ हो जाता है। धीरे-धीरे वह शोथ बढ़ता है और उसी दिन या अगले दिन साधारण-सा ज्वर हो जाता है। शोथ धीरे-धीरे कभी किसीको मामूली बढ़ता है किसीको बहुत अधिक बढ़ जाता है, जिससे बालक मुँह नहीं खोल सकता न कुछ खा पी सकता है। किसी-किसीके अन्य लाला ग्रन्थियों में भी कुछ शोथ हो जाता है, इससे लाला कम बनती है। ज्वर प्रायः तीसरे दिन उतर जाता है, परन्तु इसकी शोथ इतनी स्थिर रूपा होती है कि जल्दी नहीं उतरती। दस पन्द्रह दिन तो बड़ी आसानी से ले लेती है। एक लाला ग्रन्थिमें जब शोथ हुई हो तो दो चार दिनमें ही दूसरा लाला ग्रन्थिमें शोथ होनेकी सम्भावना प्रायः रहती है। यदि कहीं यह रोग किसी नवयुवकको हो जाय तो इस रोगके शान्त हो जानेके पश्चात् प्रायः सप्ताहान्त तक वृषण ग्रन्थिशोथ हो जाता है। "कश्चिद्धिरोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।" का यह रोग उदाहरण है, यह रोग सांघातिक नहीं। कभी-कभी इसका सञ्चार प्रबल होता है।

गलायु प्रदाह

गलेमें जिह्वा मूलके दोनों ओर दो आमलक प्रमाण

---

१ ग्रन्थिर्गलेत्वामलकास्थि मात्रः स्थिरोऽल्परुक् स्यात्कफ-रक्तमूर्त्तिः। संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च सशस्त्र साध्यस्तु गलायु संज्ञः॥ म.धव।

ग्रन्थियाँ होती हैं, इन ग्रन्थियोंका नाम गलायु है। कई प्रकारके कण्ठगत जीवाणु व कीटाणु-यथा—प्रतिश्याय, फुप्फुस प्रदाह, कण्ठारोहण, क्षय, पूयजनक आदिके-जो जैव यहाँ बने रहते हैं उनकी विद्यमानतासे कई बालकोंके गलायु प्रायः शोथपूर्ण बढ़े रहते हैं। यह शोथ साधरणतः अनेकों बालकोंमें देखा जाता है। कभी-कभी तो इन गलायु ग्रन्थियोंकी इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि वह औषधोपचारसे ठीक नहीं होते, इसीलिये उन्हें शस्त्र कर्मसे छाँटना पड़ता है। इस तरहके जीर्ण शोथको शास्त्रकार भी शस्त्रसाध्य कहता है। किन्तु हम जिस रोगका यहाँ पर वर्णन दे रहे हैं वह एक विशेष रोग है। और उसका एकाएक आक्रमण होता है।

यह रोग वर्षा ऋतुमें या जहाँकी हवा अधिक आर्द्र रहती हो जैसे बम्बई, मद्रास आदि प्रान्तोंमें अधिक होता है। होता भी ३ वर्षसे लेकर १२-१५ वर्षके बालकों को ही अधिक है।

कारण—इस रोगका कारण पूयजनक श्रेणीका वह कीटाणु है जिससे प्रसूताज्वर व आमवातज्वर होता है। इन कीटाणुओंका किसी बालकके गलायुपर जब आक्रमण होता है, तो इनके केन्द्रित होकर विवर्द्धित होनेसे गलायुमें प्रदाह उत्पन्न होता है जिससे बालकके गलेमें कुछ दर्द हो कर शीतयुक्त ज्वर हो जाता है। यह गलायु प्रदाह कभी-

कभी कण्ठमें भी फैल जाता है। जिससे गलेकी लसीका ग्रन्थियाँ भी शोथयुक्त हो जाती हैं। गलेमें दर्द होता है, ग्रीवा स्तम्भित होती है, जिह्वा प्रायः मलिन हो जाती है, पेशाबकी मात्रा घट जाती है, रोगीको कब्ज हो जाता है, ज्वर लगभग ६–७ दिन रह कर उतर जाता है, किन्तु गलायु शोथ बहुत देरमें जाता है। इसके कीटाणु एक ऐसा विष उत्पन्न करते हैं जिसका प्रभाव हृदय पर अधिक होता है, इसीसे किसी-किसी रोगीके हृदकपाटोंमें कुछ न कुछ विकृति अवश्य उत्पन्न हो जाती है और हृदयमें प्रसार होता है। रोग होने पर हृदयकी विकृतिका ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

इस रोगके मध्य यदि उक्त कीटाणु कहीं रक्तस्थ हो जाँय तो इस ज्वरके बाद उस रोगीको आमवातज्वर हो जाता है। क्योंकि आमवातज्वर और इसके कीटाणु एक ही हैं, केवल केन्द्रका ही अन्तर होता है। गलायु शोथ और गलायु प्रदाह भिन्न-भिन्न रोग हैं इसे निम्न अन्तर द्वारा समझा जा सकता है। गलायुमें एकाएक ज्वर नहीं होता न गले में अधिक दर्द ही होता है। गलायु प्रदाह होने पर एकाएक प्रदाहके साथ ज्वर हो जाता है। और वह ६–७ दिन तक रहकर उतर जाता है।

उपसंहार

हमने अबतक सञ्चारी औपसर्गिक व विशेष ज्वरोंका ही

वर्णन दिया है, इसके आगे असञ्चारी साधारण ज्वर, जीर्णज्वर, अभिघातजज्वरोंका वर्णन देकर उनपर अपने विचार रखने थे। किन्तु पुस्तकका आकार आशासे बहुत अधिक बढ़ चुका है, इसलिये उन सबोंका उल्लेख यहाँ करना कठिन हो गया है, इन्हें फिर किसी स्वतन्त्र रूपसे अन्य भागमें किया जायगा।

अब तो मैं केवल वैद्योंका ध्यान इन संचारी ज्वरोंको चिकित्साकी ओर दिलाना चाहता हूँ कि वह ज्वरोंकी आयु मर्यादाको समझें तथा इस बातका प्रयत्न करें कि इन रोगोंकी विशेष-विशेष औषधियाँ कौन सी हैं। वह हरएक ज्वरोंमें जो मृत्युंजय, अश्वकंचुकी, ज्वरांकुश, सुदर्शनादि देते रहते हैं यह सब रस उक्त संचारी ज्वरोंको तोड़नेमें समर्थ नहीं हैं, न अवधिबन्धी ज्वर समयसे पहिले जाते ही हैं। साधारण ज्वरोंके लिये तो जो रस कहे हैं उन्हें अवश्य दोषोंकी स्थितिके अनुसार चाहे देते रहें, उनके लिये वह अवश्य लाभकारी हैं, किन्तु विशेष ज्वरोंमें उनसे कोई लाभ नहीं होता। विशेष ज्वरोंको अवधिसे पूर्व नष्ट करनेके लिये इस समयकी विशेष बातोंको जानने और उसके अनुरूप औषध ढूँढ़नेकी आवश्यकता है। हम उसका यहाँ पर दिग्दर्शनमात्र करा देना उचित समझते हैं।

आप किसी भी अवधिबन्धी ज्वरको ले लें वह संचारी ज्वर निश्चित ही जैवी रोग होगा, जबतक शरीरमें उन रोगोंके

जैव व तद्विप बनता रहता है, ज्वर नहीं जा सकता। इन ज्वरोंको दूर करनेकी दो विधियाँ हैं। या तो शरीरमें क्षमता उत्पन्न कर दी जाय, जब शरीर सक्षम होगा जैवोंको नष्ट कर डालेगा और ज्वर जाता रहेगा। दूसरे ऐसी औषध दी जाय जिससे शरीरको तो कुछ भी हानि न पहुँचे, किन्तु रोगकारक जैव नष्ट हो जायँ तथा उसका विष नष्ट हो जाय।

औषध द्वारा शरीरमें जैवों को नष्ट करनेकी विधि बहुत कठिन है। अबतक दो चार रोगोंके जैवोंको नष्ट करनेकी अचूक औषधियाँ मालूम की जा सकी हैं। किन्तु, क्षमता उत्पन्न करनेकी अनेक औषधियाँ जानी जा सकती हैं, यह कोई कठिन बात नहीं। आयुर्वेदमें वर्णित बहुतसे रस ऐसे हैं जो शरीरको सक्षम बना देते हैं किन्तु, किस रोग पर या कौनसे ज्वर पर कौन-सा रस अच्छा व जल्दी क्षमताशक्ति प्रदान करता है, इसका वर्गीकरण अभी तक किसीने नहीं किया। इसका होना अत्यावश्यक बात है। इस समय सबसे अधिक आवश्यकता इसी बात की है कि कौन-कौन से लक्षण विशिष्ट ज्वरों पर कौन-कौन से रस किस-किस दशा में कैसे देने पर लाभ करते हैं इसका विवेचन वैद्य समुदाय की ओर से होना आवश्यक है। यदि ऐसा हो जाय तो चिकित्सा क्रममें बहुत सुविधा हो जावेगी।

ओम् शम्

शुद्धिपत्र

इस पुस्तक में पाठक औषधि की जगह औषध और ओषध की जगह औषधि शुद्ध कर लें ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१०	२०	मल	मल
११	३	अहार	आहार
११	३	असाम्य	असात्म्य
१२	१४	प्रत्यात्मक	प्रत्यायक्र
१२	२१	प्रत्यात्मक	प्रत्यायकं
१३	१६	श्रमोऽरतिविर्वर्णत्व	श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं
१५	५	उत्पति	उत्पत्ति
१५	१७	जलाधिक्य	जलाधिक्यात्
१५	१६	मन्दाग्निमन्दाग्ने	मन्दाग्निर्मन्दाग्ने
१५	२१	विशोऽजीर्णे	त्रिशोऽजीर्णे
१६	२०	भिन्न और	भिन्न
१८	२२	अणुवीर्त्यीय	अणुवीर्त्य
१६	१६	आमवातज्वर	सन्धिवातज्वर
२३	२२	मलनीकरणान्मलाः	मलिनीकरणान्मलाः
२८	१६	विषम जैवी	विषमी जैवों
३१	२०	श्रमोऽरतिविर्वर्णत्व	श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं
४०	१६	पित्तोल्वरौ	पित्तोल्वणे
४०	२१	प्रलीमकाः	प्रमीलका.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४१	१४	प्रतिश्यायच्छर्दिरालस्य	प्रतिश्यायपूर्छदिरालस्य
४१	१७	भ्रशं	भृश
४१	२१	प्रलीमकः	प्रमीलकः
४१	२१	माधर्यमेव	माधुर्यमेव
४५	२१	विधु फल्गु	विधु फल्गू
४६	२०	प्रलीमकाः	प्रमीलका.
४७	१८	प्रलीमका'	प्रमीलका
४९	२०	मूर्च्छ्वसिति	मुच्छ्वसिति
५२	१५	वागरु.	वाग्रुज.
५२	१५	प्रलीमक.	प्रमीलक
५२	१८	प्रलीम	प्रमीलक
५२	२१	हतपाणि	हतपाणि.
५५	२२	पालकः	पालका
५६	२०	निष्टवि	निष्टीव
५८	२०	जिह्वकेषोडसा	जिह्वकेत्योडशा
५८	२०	तुसा पद्यकम्	तु पाद्यकम्
५९	१९	सन्निपातहित	सन्निपातमित
५९	२२	वक्ष्यौ	वक्ष्यते
६२	१९	स्वथु	दवथु
६२	२१	चक्षुभ्या	चक्षुर्भ्यां
६३	१७	प्रथुल	पृथुल
६३	२२	कण्ठकुब्जे	कण्ठकुब्जः
६५	१९	शूलातिसारः	शूलातिसारा.
६७	१०	साश्नूणि	साश्रणी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
६७	१०	पद्मणि	पद्मणी
६७	१०	अन्नणी	अक्षिणी
६७	१३	निद्रानाशे	निद्रानाशो
६६	२१	प्रादुर्हतौ	प्राहुर्हेतौ
७०	१०	वढता	वढते
७६	११	संचारकके	संचारके
८३	१७	हटाकर तो अब	हटाकर अब
८५	५	विचारवात्	विचारवान्
८६	१६	स्वयम् मुझे पाल	स्वयम् पाल
८८	३	और भोजन	भोजन
८८	१६	दवाइयों ओर	दवाइयों की ओर
६८	४	सूक्ष्म	सक्षम
६८	१५	उनका	उनको
१००	३	जैवीजन्य	जैवजन्य
१०१	२०	निर्वलताका	निर्वलका
१०७	७	काफा	काफी
१११	२१	समय जितने अनेक	समय अनेक
११२	१७	सक्ती	सक्ता
११५	२०	वह जैव उतर	वह उतर
११६	७	भिडते यह अपनेको	भिड़ते अपनेको
११६	१८-१८	साथ तथा वहा	साथ वहा पर
११६	१३	शरार	शरीर
११६	१६	विषयमता	विषमयता
१२१	७	पूप	पूय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१२४	४	मध्यच्च-	मध्यस्थ
१२४	६	रससंजन	रमसंजनन
१२४	१३	पाकच्च	पाचक
१२७	५	इससे आगे "रोग और निदान" का शीर्षक लिख लें	
१२८	१६	वार यह वहुतसे	वार बहुत से
१३१	२०	हिसभूतो	हित संभूतो
१३६	१	पराचाएँ	परीचाएँ
१३७	१६	हि सम्भूतो	हित सम्भूतो
१४१	२१	सततो	मन्तनो
१४२	७	प्रकार के जीवाणु	प्रकार के जिन जीवाणु
१४८	१	चातुर्थक	चातुर्थिक
१४६	८	मिम्न	निम्न
१५०	१	जिहा	जिह्व
१५६	१३	अर्द्धयविमर्गी	अर्द्ध विसर्गी
१५७	१४	निभ्रम	निर्भ्रम
१६५	१७	नीलता	नीजमा
१६६	२२	मन्थरज	मन्थरज्वर
१७० ३कालम	१७	नहा	नही
१७२	४	मुक्तवत्	मुक्तावत्
१७२	२२	मुक्तवत्	मुक्तावत्
१७४	२०	जीवत	जीवित
१७५	६	संयमों	ममयो
१७५	६	कीटाण	कीटाणु
१७६	२	मंचत काल	मंचय काल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१८५	७	तव	तक
१८९	८	मल-मूत्रादि वेग को	मल मूत्रादि वेग,
१८९	८	साहस के रोकने से	दूसरे साहस पूर्ण कर्म
१८९	९	दूसरे	तीसरे
१८९	९	तीसरे	चौथे
१८९	९	, चौथे धातुक्षय	धातुक्षय
१८७	२	वि शे	विदेश
१८७	१४	जबतक न	जब एक इन
१८७	२२	हुआ कि	हुआ है कि
१९३	२०	क्षोण	क्षीण
१९४	१	क्षोण	क्षीण
१९४	२	अपना	अपनी
१९४	१२	जोवाणु	कीटाणु
१९५	४	स्मायु	स्नायु
१९५	४	त्वचा भा	त्वचा भी
१९५	७	काटाणु	कीटाणु
१९५	१९	पहुँचे हैं	पहुँचते हैं
१९५	१९	तो वहा एका-	तो एका-
१९५	२०	उनका इधर सामुख्य	उनका सामुख्य
१९६	१२	ऊष्मीकरण	ऊष्मीकरण
१९६	१५	श्वसनली	श्वासनली
१९७	३	कीवाणु	कीटाणु
१९९	८	इसगे	इससे
१९९	९	कीवाणु	कीटाणु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२००	६	विट्पावस्था की	विड्पावस्था
२०१	६	विद्यमान	प्राथमिक
२०१	९-१०	यह रोग	काल रोग
२०६	१	जीलना	जीन मा
०७	८	वह रोग	वहा रोगा
२१०	१०	स्व यन्त्र	स्वर यन्त्र
२११	३	नन्त	नन्तु
२१४	४	मायन्त	मायन्त
२१९	८	मनुष्य	मनुष्य
२२०	२०	प्रनान	प्रनीन
२२२	१६	काठारोहण	काठारोहण
२२४	८	हृदशोथ	हृदयशोथ
२२४	१३	पार्वनीय	पर्वनीय
२२४	१९	प्रवद्ध	प्रवृद्ध
२२७	२	मन्निपातिक	मान्निपातिक
२२७	१२	ज्ञाता	ज्ञानी
२२८	१९	ग्लानिमार	ग्लानिमारा
२२८	१०	मन्निपातिक	मान्निपातिक
२२८	२०	प्रणाश।	प्रणाश
२२९	२	वान्तन	वान्तव
२३६	१४	बृहदान्त्र	बृहदन्त्र
२३६	१४	वृक्क	वृक्क
२३६	१८	प्लाहा	प्लीहा
२३७	४	अग्निरोहणी	अग्निरोहिणी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२३७	६	वच्चण	वक्षण
२३७	२२	रोहणी	रोहिणी
२३७	२२	सन्निपतिकीम्	सान्निपातिकीम्
२४०	१०	सन्निपातिक	सान्निपातिक
२४०	१२	खासी के श्लेपा	खासी के साथ
२४०	१२	मिश्रत	मिश्रित
२४५	१	नास	नासा
२४५	१२	किसाको	किसी को
२४६	७	होता हैं	होते हैं
२४६	१४	ज्वरो के	ज्वरो से
२४६	१७	प्रत्यवर्त्तन	प्रत्यावर्त्तन
२४७	१	गये हुऐ	गये हुए
२४९	६	ग्रह रोग	यह रोग
२५१	३	रागो के	रोगों के
२५१	९	कीटाणु	जीवाणु
२५२	२	जावन	जीवन
२५२	३	प्रतति	प्रतीत
२५२	८	महत्व	महत्त्व
२५२	१६	रागकारणी	रोगकारिणी
२५२	२२	राग, उसका	रोग उसकी
२५३	३	इस फुफ्फुस	फुफ्फुस
२५३	३	परीक्ष्य	परीक्षा
२५७	७	जिन	जिम
२५७	१५	आता	होता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२५८	६	वह कोष	वह मृत कोप
२५८	७	मिलाकर	मिलकर
२५६	४	स्थित	स्थिति
२५६	६	स्थाई	स्थायी
२६१	३	वाच	वीच
२६२	१७	शाद्विक	शाब्दिक
२६३	१८	लेना	लेता
२६६	५	फुफ्फुस ज्वर प्रदाही	फुफ्फुस प्रदाही ज्वर
२६६	१४	नकी	इनकी
२६७	१०	हा	हो
२६६	३	प्रान्त के	पजाब प्रान्त के
२६६	४	फिर प्रान्त के	फिर इसी प्रान्त के
२७०	४	आयुर्वेद मे तो	आयुर्वेद तो
२७१	७	हृदयावाण	हृदयावरण
२७२	२०	वेगश्च	वेगश्च
२७२	२१	ज्वरकृति	ज्वराकृति
२७५	६	पढने	बढ़ने
२७७	१६	नहा	नही
२७६	१२	मर्यादा प्रतिवार	मर्यादा-क्रम प्रतिवार
२७६	१६	आपु	आखु
२८०	१०	वृद्धि से	वृद्धि के
२८०	१४	मुषक	मूषिक
२८१	१६	कभा	कभी
२८२	३	आपु	आखु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२८२	१६	श्वपथुा	श्वपथु.
२८३	१३	दिन होता	दिन का होता
२८४	१६	ग्रन्थी	ग्रन्थि
२८७	१३	गिलायु	गलायु
२८७	१७	शात	शीत
२९३	६	कारणा	कारणो
२९४	४	इन रोगका	इस रोगका
२९४	१८	रोगणी	रोगिणी
२९४	१६	गरिष्ट	गरिष्ठ
२९६	६	तान प्रकार	तीन प्रकार
२९६	११	विसप	विसर्प
२९६	१३	लगाने	गलाने
३०६	४	हारही	होरही
३०८	२१	फुफ्फुसो को	फुफ्फुसो की
३०९	४	और रोग	और वह रोग
३१०	३	प्रकार के	प्रकार का
३१३	१	सिमित	सीमित
३१४	२२	अताम्राच्च	आताम्राचः
३१६	१२	वहती	वहती हैं
३१६	२१-२२	लक्षणोंके यदि	लक्षणोंके साथ यह दाने
३१८	४	आद्रता	आर्द्रता
३१८	१७	रोमान्तिक	रोमान्तिका
३१८	१६	पसला	पसली
३१९	१	काटाणु	कीटाणु

पारिभाषिक शब्द

अतिनिद्राज्वर	Sleeping Sickness
अनुवीक्ष्य	Microscopic
अन्तःक्षेप	Injection
अन्येद्यु	Quotidian Fever
अन्त्राचूषक	Villi
अण्डसित	Allbumen
अरुणी ज्वर	Scarletina Fever
अर्द्ध विसर्गी	Remittint
अविसर्गी	Continuous
अस्थिभञ्जीज्वर	Dengue Fever
अम्लजिदीय	Proteinoidic
अक्षय	Susceptibility
आखु विषज्वर	Rat-bite Fever
आर्द्रशोथ	Dropsy
उत्ताप नियन्त्रक केन्द्र	Hypophthalamus
उदर-ग्रन्थि-क्षय	Tabes Mesenterica
उपमन्थर ज्वर	Para typhoid Fever
ऊष्मजन	Oxygen
ओपोरुधिर जन	Oxo Haemoglobin
औपसर्गिक रोग	Infectious Disease
कण्ठमाला	Scrofula

कण्ठारोहण	Diphtheria
कर्णफेर	Mumps
कर्षिण्याकार	
कामला	Janndice
कालज्वर	Kala-azar
कालमेही ज्वर	Black water Fever
कीटाणु	Becteria
कुक्कुर कास	Whooping cough
कुंकुम ज्वर	Scarlatina Fever
केन्द्र	Centre
कोका वैसिलस	Bacillus Coccus
कोथ	
गलायु प्रदाह	Tonsillitis
गोमसूरिका	Vaccinia
चातुर्थिक ज्वर	Quartan Eever
चित्राली ज्वर	Sand-fly Fever
जीवन-चक्र	Schizogony
जीवाणु	Protozoa
जैव	Protozoen
टाइफाइड	Typhus Fever
तन्तुजायु	Tissu
तरंगी ज्वर	Undulant Fever
तृतीयक ज्वर	Tertian Fever
तापक	Calorie
थैलेमस	Thalamus

दुर्गन्ध ज्वर	Pyaemia
नाडीशोथ	
निःस्पन्दक	Filter
परिसर्प	Herpes Zoster, Simplex
परिविस्तृत कल्प	Peritonium
प्रतिविष	Anti Toxic
प्रसूतिका ज्वर	Puerperal Fever
प्रहर्षण	Inflammation
पीतज्वर	Yellow Fever
पुनरावर्त्ती	Relapsing Fever
पूयोरस	Empyema
प्लेग	Plague
फुफ्फुस प्रदाही ज्वर	Pneumonia
फुफ्फुसावरण शोथ	Pleurisy with effusian
बालाक्षेप	Infantile paralysis
बालाक्षेपी ज्वर	Acute anteriorpoliamy-lites
मन्थर ज्वर	Typhoid Fever
माध्यम	Medium
मूत्रेत	Urete
मूत्राम्ल	Uric acid
मसूरिका	Smallpox
यकृता भवन	Hepatization
यक्ष्मा विष	Tubercule Toxine
रक्त विदूषी ज्वर	Pyaemia Fever

रक्ताल्पता	Anaomia
रश्मि-न्द्र	X-Ray
राजयक्ष्मा	Phthisis, Tuberculosi
रुधिर जन	Hemoglobin
रोमान्तिका	Measles
लघुमसूरिका	Chicken Pox
लसीका	Lymph
लसीका ग्रन्थि	Lymph gland
बृहत् मसूरिका	Small pox
वातोरस	Pneumothurax
विषमयता	Toxaemia
विषमी विष	Malarial Toxine
विषम ज्वर	Malaria
विषमी जीवाणु	Plasmadium Malaria
विसर्प	Erysipelas
विसर्गी ज्वर	Intermittent
श्वसनक ज्वर	Influenza
श्वसनक प्रणाली	Bronchiole
शीर्षप्रदाह	Meningits
शीर्षमण्डल प्रदाह	Cerebro-sinal Fever
शीर्षोदक	Hydrocephalus
श्वसन प्रदाह	Bronchitis
श्वेत सार	Starch
सतत ज्वर	Remittint Fever
सजीव कोष	Cell

ग्रन्थिवात ज्वर	Rheumatic Fever
सरीसृप वर्ग	Reptilia kingdoms
सुषुम्ना काण्ड	Spinal cord
सौत्रिक तन्तु	Fibrous tissue
स्वरयन्त्र प्रदाह	Laryngitis
स्फुरेत	Phosphate
हापो फसिस ग्रन्थि	Hypophysis cerebric
हृदयावसाद	Heart Depression
क्षमता शक्ति	Immunity